

Chapter नौ

वृत्रासुर राक्षस का आविर्भाव

इस अध्याय में बताया गया है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र ने विश्वरूप का वध कर दिया, अतः विश्वरूप के पिता ने इन्द्र को मारने के लिए एक यज्ञ किया। जब उस यज्ञ से वृत्रासुर उत्पन्न हुआ तो देवता डर के मारे श्रीभगवान् की शरण में गये और उनका यशोगान करने लगे।

चूँकि विश्वरूप ने चुपके से स्नेहवश, असुरों को यज्ञ की हवि प्रदान की थी, अतः जब इन्द्र को यह पता लगा तो उसने विश्वरूप का सिर काट लिया। बाद में इन्द्र को विश्वरूप को मारने का पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि विश्वरूप ब्राह्मण था। इन्द्र चाहता तो ब्रह्महत्या के पापपूर्ण कृत्य को

निष्प्रभावी बना सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उलटे उसने हत्या का पाप स्वीकार कर लिया। बाद में उसने पाप को स्थल, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया। चूँकि पृथ्वी ने पाप का चतुर्थांश स्वीकार किया, इसलिए पृथ्वी का एक भाग मरुस्थल बन गया। वृक्षों ने भी उतना ही पाप स्वीकार किया, इसलिए उनसे रस चूसता है, जिसे पीना मना है। स्त्रियों ने पाप का चतुर्थांश ग्रहण किया था, इसलिए वे मासिक धर्म के समय अस्पृश्य होती हैं। चूँकि जल ने भी पाप स्वीकार किये थे, अतः बुलबुले उठने वाला जल किसी काम में नहीं लाया जा सकता है।

विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए यज्ञ किया। दुर्भाग्यवश यदि मंत्रों का अनियमित उच्चारण हो तो वे विपरीत फल देते हैं। त्वष्टा के यज्ञ में ऐसा ही हुआ। जब वह इन्द्र के वध के लिए यज्ञ कर रहा था, तो उसने इन्द्र के शत्रुओं की वृद्धि के लिए एक मंत्र पढ़ा, किन्तु मंत्र के सही-सही न पढ़े जाने से इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर नामक असुर उत्पन्न हो गया। उसके भयानक रूप से सारा संसार भयभीत हो उठा। उसके निजी तेज के समक्ष देवताओं की शक्ति भी घट गई। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर सभी देवता यज्ञ-फल के भोक्ता, समग्र ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा में जुट गये। सभी देवता उनकी पूजा इसलिए करने लगे, क्योंकि वे ही भय तथा संकट से जीवों की रक्षा कर सकते हैं। श्रीभगवान् की पूजा को छोड़कर किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करना मानो कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना है। कुत्ता तैर सकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसकी पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार किया जा सकता है।

देवताओं से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ने उन्हें सलाह दी कि वे दधीचि के पास जाकर उनकी अस्थियाँ माँगें। वे देवताओं की प्रार्थना मान लेंगे और उनकी अस्थियों के द्वारा वृत्रासुर मारा जा सकेगा।

श्रीशुक उवाच

तस्यासन्विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत ।
सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; तस्य—उसका; आसन्—थे; विश्वरूपस्य—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप को; शिरांसि—शिर; त्रीणि—तीन; भारत—हे महाराज परीक्षित; सोम-पीथम्—सोम पान के लिए; सुरा-पीथम्—मदिरा पान के लिए; अन्न-अदम्—खाने के लिए; इति—इस प्रकार; शुश्रुम—परम्परा प्रणाली से मैंने सुना रखा है।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—देवताओं के पुरोहित विश्वरूप के तीन सिर थे। इनमें से एक से वह सोमपान करता था, तो दूसरे से मदिरा पान और तीसरे से भोजन ग्रहण करता था। हे राजा परीक्षित! ऐसा मैंने विद्वानों से सुना है।

तात्पर्य : कोई मनुष्य स्वर्ग के राज्य, इसके राजा तथा अन्य वासियों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है और न उनके अन्य कार्य-कलापों को ही देख सकता है, क्योंकि वह स्वर्गलोक नहीं जा सकता। यद्यपि आधुनिक विज्ञानियों ने अनेक अन्तरिक्षयानों का आविष्कार कर लिया है, किन्तु वे अभी चन्द्रमा तक भी नहीं पहुँच पाये, अन्य लोकों की बात तो कोसों दूर है। कोई मनुष्य प्रत्यक्ष अनुभव से मानव-अनुभूति से अधिक नहीं सीख सकता। उसे विद्वानों से सुनना चाहिए। इसीलिए महात्मा शुकदेव गोस्वामी कहते हैं, “हे राजन्! मैं तुमको वही सुना रहा हूँ जो कुछ मैंने प्रामाणिक सूत्रों से सुना है।” यह वैदिक पद्धति है। वैदिक ज्ञान को श्रुति कहा जाता है, क्योंकि यह प्रामाणिक सूत्रों से सुनकर ग्रहण किया जाता है। यह हमारे झूठे प्रयोगात्मक ज्ञान के दायरे से परे है।

स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः ।
अददद्यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); वै—निस्सन्देह; बर्हिषि—यज्ञ की अग्नि में; देवेभ्यः—विशिष्ट देवताओं के लिए; भागम्—उचित हिस्सा; प्रत्यक्षम्—आँखों के सामने; उच्चकैः—मंत्रों के तेज उच्चारण से; अददत्—दिया गया; यस्य—जिसके; पितरः—पितृगण; देवाः—देवता; स-प्रश्रयम्—विनीत स्वर से; नृप—हे राजा परीक्षित।

हे महाराज परीक्षित! देवतागण विश्वरूप के पितापक्ष से सम्बन्धित थे, अतः विश्वरूप

सबों के समक्ष अग्नि में घी की आहुति इन मंत्रों का उच्चारण करके दे रहा था—“इन्द्राय इदं स्वाहा” (“यह राजा इन्द्र के लिए है”) तथा “इदम् अग्नये” (यह अग्नि देव के लिए है)। वह मंत्र का उच्चारण उच्च स्वर से कर रहा था और प्रत्येक देवता को उसका उचित भाग प्रदान करता जा रहा था।

स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान्प्रति ।
यजमानोऽवहद्भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (विश्वरूप); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; ददौ—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; परोक्षम्—देवताओं से छिपाकर; असुरान्—असुरगण; प्रति—को; यजमानः—यज्ञ करते हुए; अवहत्—प्रदान किया; भागम्—हिस्सा; मातृ-स्नेह—अपनी माता के स्नेह वश; वश-अनुगः—बाध्य होकर।

वह यद्यपि देवताओं के नाम से यज्ञ की अग्नि में घी आहुति डाल रहा था, किन्तु देवताओं के बिना जताये वह असुरों के नाम की भी आहुति डालता जाता था, क्योंकि वे उसकी माता के पक्ष के सम्बन्धी थे।

तात्पर्य : विश्वरूप का सम्बन्ध देवताओं तथा असुरों दोनों पक्षों से था, इसलिए वह दोनों वंशों की ओर से परमेश्वर को प्रसन्न कर रहा था। किन्तु जब वह असुरों की ओर से अग्नि में आहुति डालता तो देवताओं को बिना जताये चुपके से ऐसा करता था।

तद्देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः ।
आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद्गुषा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; देव-हेलनम्—देवताओं के प्रति अपराध; तस्य—उस (विश्वरूप) का; धर्म-अलीकम्—धर्म के नाम पर धोखा; सुर-ईश्वरः—देवताओं का राजा; आलक्ष्य—देखकर; तरसा—शीघ्र; भीतः—डरा हुआ (कि विश्वरूप के आशीर्वाद से असुर शक्ति प्राप्त कर लेंगे); तत्—उसका (विश्वरूप का); शीर्षाणि—सिर; अच्छिनत्—काट दिया; गुषा—क्रोध से।

किन्तु एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को पता चल गया कि विश्वरूप देवताओं को धोखा देकर असुरों की आहुतियाँ दे रहा है। अतः वह असुरों द्वारा पराजित किये जाने से अत्यधिक

भयभीत हो उठा और अतीव क्रोध में उसने विश्वरूप के तीनों सिरों को उसके कंधों से अलग कर दिया।

सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत्कपिञ्जलः ।
कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत्स तित्तिरिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सोम-पीथम्—सोमरस पीने वाले; तु—लेकिन; यत्—जो; तस्य—उस (विश्वरूप) का; शिरः—सिर; आसीत्—हो गया; कपिञ्जलः—पपीहा; कलविङ्कः—गौरैया; सुरा-पीथम्—मदिरा पीने वाला; अन्न-अदम्—भोजन करने वाला; यत्—जो; सः—वह; तित्तिरिः—तीतर।

तत्पश्चात् सोमरस पीनेवाला सिर पपीहे में, सुरापान करने वाला सिर गौरैया में और भोजन करने वाला सिर तीतर में बदल गया।

ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः ।
संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म-हत्याम्—ब्राह्मण को मारने से लगने वाला पाप; अञ्जलिना—हाथ जोड़कर; जग्राह—स्वीकार कर लिया; यत् अपि—यद्यपि; ईश्वरः—अत्यन्त शक्तिमान; संवत्सर-अन्ते—एक वर्ष बाद; तत् अघम्—वह पाप; भूतानाम्—भौतिक तत्त्वों का; सः—वह; विशुद्धये—शुद्धि के लिए; भूमि—पृथ्वी के लिए; अम्बु—जल; द्रुम—वृक्ष; योषिद्भ्यः—तथा स्त्रियों के लिए; चतुर्धा—चार भागों में; व्यभजत्—बाँट दिया; हरिः—राजा इन्द्र ने।

इन्द्र इतना शक्तिशाली था कि यदि चाहता तो ब्रह्महत्या के पापफल को निरस्त कर सकता था, किन्तु उसने हाथ जोड़ कर पछताते हुए पाप-भार को स्वीकार कर लिया। उसने एक वर्ष तक यातना भोगी और तब अपनी शुद्धि के लिए हत्या के पाप को पृथ्वी, जल, वृक्ष तथा स्त्रियों में बाँट दिया।

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै ।
ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

भूमिः—पृथ्वी; तुरीयम्—चतुर्थांश; जग्राह—स्वीकार कर लिया; खात-पूर—गड्डों को भरने का; वरेण—आशीर्वाद के कारण; वै—निस्सन्देह; ईरिणम्—मरुस्थल; ब्रह्म-हत्यायाः—ब्राह्मण की हत्या से लगे पाप का; रूपम्—रूप; भूमौ—पृथ्वी पर; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

पृथ्वी ने, राजा इन्द्र से बदले में यह वरदान लेकर कि जहाँ कहीं भी गड्डे होंगे वे समय पर अपने आप भर जायेंगे, ब्रह्महत्या के पापों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। उन पापों के कारण ही हमें पृथ्वी पर अनेक मरुस्थल दिखाई पड़ते हैं।

तात्पर्य : चूँकि रेगिस्तान पृथ्वी की रूग्ण स्थिति के कारण प्रकट होता है, अतः कोई भी अनुष्ठान रेगिस्तान में नहीं सम्पन्न किया जा सकता। जिनके भाग्य में रेगिस्तान में रहना बदा है, उनके बारे में यह समझना चाहिए कि ब्रह्महत्या के पापफल के कारण वे वहाँ रह रहे हैं।

तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः ।

तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तुर्यम्—चतुर्थांश; छेद—काटे जाने पर; विरोहेण—फिर से बढ़ने का; वरेण—आशीर्वाद से; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; द्रुमाः—वृक्षों ने; तेषाम्—उनका; निर्यास-रूपेण—वृक्षों से निकलने वाले द्रव (गोंद) से; ब्रह्म-हत्या—ब्राह्मण को मारने का पाप; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

वृक्षों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान लिया कि काटे जाने पर भी उनकी शाखाएँ फिर से उग आयेंगी, ब्रह्महत्या के पापफल का चतुर्थांश ले लिया। ये पापफल वृक्षों से निकलने वाले रस के रूप में दिखाई पड़ते हैं (इसलिए इस रस को पीना वर्जित है)।

शश्वत्कामवरेणाहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः ।

रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—निरन्तर; काम—कामेच्छा के; वरेण—वर से; अंहः—ब्रह्महत्या पाप; तुरीयम्—चतुर्थांश; जगृहुः—स्वीकार कर लिया; स्त्रियः—स्त्रियाँ; रजः—रूपेण—रजोकाल के रूप में; तासु—उनमें; अंहः—पाप बन्धन; मासि मासि—प्रत्येक महीने; प्रदृश्यते—दिखाई पड़ता है।

स्त्रियों ने, इन्द्र से बदले में यह वरदान प्राप्त करके कि वे अपनी काम-वासनाओं को, जब तक वे भ्रूण के लिए हानिकर न हों, गर्भकाल में भी निरन्तर पूरी कर सकेंगी, पापफलों

का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप स्त्रियों में प्रत्येक मास रजोदर्शन होता है।

तात्पर्य : स्त्रियों की जाति अत्यन्त कामी होती है और निरंतर बनी रहनेवाली उनकी कामवसाना कभी पूरी नहीं होती। जब इन्द्र ने यह वर दिया कि उनकी कामनाओं का कभी अन्त न हो तो स्त्रियों ने ब्रह्महत्या से लगने वाले पापफलों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया।

द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहर्मलम् ।

तासु बुद्धदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—अन्य वस्तुएँ; भूयः—बढ़ने को; वरेण—वरण से; आपः—जल; तुरीयम्—चतुर्थांश; जगृहः—स्वीकार कर लिया; मलम्—पाप; तासु—जल में; बुद्धद-फेनाभ्याम्—बुलबुलों तथा फेन से; दृष्टम्—दृश्य; तत्—वह; हरति—भरता है; क्षिपन्—फेंककर, हटाकर।

जल ने इन्द्र से बदले में यह वर प्राप्त करके कि किसी अन्य वस्तु में जल मिलाने से उसका आयतन बढ़ जायेगा, पापफलों का चतुर्थांश स्वीकार कर लिया। इसीलिए जल में बुलबुले तथा फेन उठते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें हटाकर के ही जल भरे।

तात्पर्य : जब दूध, फल के रस या अन्य ऐसे किसी पदार्थ के साथ जल मिलाया जाता है, तो आयतन बढ़ जाता है और लोग यह नहीं समझ पाते कि उनमें से किसकी वृद्धि हुई। इस आशीर्वाद के बदले में जल ने इन्द्र के पापों का चतुर्थांश अंगीकार कर लिया। ये पापकर्म फेन तथा बुलबुलों में दिखाई पड़ते हैं। अतः पीने के लिए जल भरते समय बुलबुले तथा फेन से बचना चाहिए।

हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे ।

इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

हत-पुत्रः—जिसका पुत्र मर चुका है; ततः—तत्पश्चात्; त्वष्टा—त्वष्टा ने; जुहाव—यज्ञ किया; इन्द्राय—इन्द्र के लिए; शत्रवे—एक शत्रु उत्पन्न करने के लिए; इन्द्र-शत्रो—हे इन्द्र के शत्रु; विवर्धस्व—बढ़ो; मा—मत; चिरम्—दीर्घकाल के बाद; जहि—मारो; विद्विषम्—अपना शत्रु।

विश्वरूप के वध के पश्चात् उसके पिता त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए अनुष्ठान किये।

उसने अग्नि में यह उच्चारण करके आहुति डाली, “हे इन्द्र के शत्रु! तुम्हारी अभिवृद्धि हो, तुम अविलम्ब अपने शत्रु का वध करो।”

तात्पर्य : त्वष्टा के द्वारा उच्चरित मंत्र में कुछ त्रुटि रह गई थी, क्योंकि उसने ह्रस्व के बजाय दीर्घ स्वर में उच्चारण किया जिससे मंत्र का अर्थ बदल गया था। त्वष्टा इन्द्र शत्रो शब्द का उच्चारण करना चाहता था जिसका अर्थ है “हे इन्द्र के शत्रु।” इस मंत्र में इन्द्र सम्बन्ध कारक (षष्ठी) में आया है और इन्द्रशत्रो में तत्पुरुष समास कहलाता है। दुर्भाग्यवश त्वष्टा ने इस मंत्र का थोड़े समय के बजाय देर तक उच्चारण किया जिससे उसका अर्थ “इन्द्र के शत्रु” से बदलकर, “इन्द्र, जो शत्रु है” हो गया। फलस्वरूप इन्द्र का शत्रु न प्रकट होकर वृत्रासुर का शरीर प्रकट हुआ, जिसका शत्रु इन्द्र था।

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः ।

कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अथ—तदनन्तर; अन्वाहार्य-पचनात्—अन्वाहार्य नामक अग्नि से; उत्थितः—निकला; घोर-दर्शनः—अत्यन्त भयानक लगने वाला; कृतान्तः—साक्षात् प्रलय; इव—सदृश; लोकानाम्—समस्त लोकों का; युग-अन्त—कल्पान्त; समये—समय पर; यथा—जिस प्रकार।

तत्पश्चात् अन्वाहार्य नामक यज्ञ अग्नि के दक्षिणी कोने से एक भयावना व्यक्ति प्रकट हुआ जो युगान्त में समग्र ब्रह्माण्ड का विनाश करने वाले के समान प्रतीत हो रहा था।

विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ।

दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥ १३ ॥

तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥ १४ ॥

देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी ।

नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥ १५ ॥

दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् ।

लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥

महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः ।

वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

विष्वक्—चारों ओर; विवर्धमानम्—बढ़ता हुआ; तम्—उसको; इषु-मात्रम्—बाण की उड़ान; दिने दिने—प्रतिदिन; दग्ध—जला हुआ; शैल—पर्वत; प्रतीकाशम्—सदृश; सन्ध्या—शाम को; अभ्र-अनीक—बादलों के समूह की तरह; वर्चसम्—तेजमय; तप्त—पिघला हुआ; ताम्र—ताँबे के समान; शिखा—बाल; श्मश्रुम्—मूछें तथा दाढ़ी; मध्याह्न—दोपहर; अर्क—सूर्य के समान; उग्र-लोचनम्—प्रचण्ड नेत्र वाला; देदीप्यमाने—प्रकाशमान; त्रि-शिखे—तीन नोंक वाले; शूले—अपने भाले में; आरोप्य—रखकर; रोदसी—पृथ्वी तथा स्वर्ग; नृत्यन्तम्—नाचते हुए; उन्नदन्तम्—उच्चस्वर करते हुए; च—तथा; चालयन्तम्—चलते हुए; पदा—अपने पाँव से; महीम्—पृथ्वी को; दरी-गम्भीर—गुफा के समान गहरी; वक्त्रेण—मुख से; पिबता—पीता हुआ; च—भी; नभस्तलम्—आकाश को; लिहता—चाटते हुए; जिह्वया—जीभ से; ऋक्षाणि—तारों को; ग्रसता—निगल कर; भुवन-त्रयम्—तीनों लोकों को; महता—महान्; रौद्र-दंष्ट्रेण—भयानक दाँतों से; जृम्भमाणम्—जम्हाई लेते हुए; मुहुः मुहुः—पुनः पुनः; वित्रस्ताः—भयानक; दुद्रुवुः—दौड़ा; लोकाः—लोग; वीक्ष्य—देखकर; सर्वे—समस्त; दिशः दश—दशों दिशाओं में।

उस असुर का शरीर चारों दिशाओं में छोड़े हुए बाण के समान प्रतिदिन बढ़ने लगा। वह लम्बा और काला था, मानो कोई जला हुआ पर्वत हो। वह संध्याकालीन बादलों के समूह की भाँति दीप्ति से युक्त था। असुर के शरीर के बाल तथा उसकी दाढ़ी-मूछें पिघले ताँबे के रंग की थीं। उसके नेत्र मध्याह्नकालीन सूर्य की भाँति भेदने वाले थे। वह दुर्जय था और ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अपने प्रज्वलित त्रिशूल पर तीनों लोकों को धारण किये हो। उच्चस्वर करके उसके नाचने और गाने से सारी पृथ्वी हिल उठी मानो भूकम्प आया हो। वह पुनः पुनः जम्हाई ले रहा था, मानो कन्दरा के समान अपने विशाल मुख में वह सारे आकाश को निगल जाना चाहत हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह आकाश के सभी तारों को अपनी जीभ से चाट रहा हो और अपने लम्बे पैने दाँतों से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को खाने जा रहा हो। उस विराट असुर को देखकर सभी व्यक्ति डर के मारे इधर-उधर चारों दिशाओं में भागने लगे।

येनावृता इमे लोकास्तपसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।

स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; आवृताः—प्रच्छन्न; इमे—ये सब; लोकाः—लोक; तपसा—तपस्या से; त्वाष्ट्र-मूर्तिना—त्वष्टा के पुत्र के रूप में; सः—वह; वै—निस्सन्देह; वृत्रः—वृत्र; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहलाया; पापः—साक्षात् पाप; परम-दारुणः—अत्यन्त भयानक।

उस अत्यन्त भयानक असुर ने, जो वास्तव में त्वष्टा का ही पुत्र था, अपने तप बल से सभी लोकों को आच्छादित कर लिया था। इसलिए वह वृत्र अर्थात् प्रत्येक वस्तु को आच्छादित करने वाला कहलाया।

तात्पर्य : वेदों में कहा गया है—स इमाल्लोकान आवृणोत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्—चूँकि असुर ने समस्त लोकों को आच्छादित कर लिया था इसलिए उसका नाम वृत्रासुर पड़ा।

तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।

स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निजघ्नुः—टूट पड़े; अभिद्रुत्य—दौड़कर; स-गणाः—सैनिकों सहित; विबुध-ऋषभाः—सभी बड़े-बड़े देवता; स्वैः स्वैः—अपने-अपने; दिव्य—दिव्य; अस्त्र—धनुष-बाण; शस्त्र-ओघैः—विभिन्न प्रकार के आयुध से युक्त; सः—वह (वृत्र); अग्रसत्—निगल गया; तानि—उन (आयुधों) को; कृत्स्नशः—एकसाथ।

इन्द्र इत्यादि सभी देवता अपने सैनिकों सहित उस असुर पर टूट पड़े। वे अपने दिव्य धनुष-बाणों तथा अन्य हथियारों से उसे मारने लगे, किन्तु वृत्रासुर उनके सभी हथियार निगलता गया।

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।

प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—वे (देवता); विस्मिताः—आश्चर्यचकित; सर्वे—सभी; विषण्णाः—अत्यन्त दुखी; ग्रस्त-तेजसः—अपनी शक्ति खोकर; प्रत्यञ्चम्—परमात्मा को; आदि-पुरुषम्—आदि पुरुष की; उपतस्थुः—प्रार्थना की; समाहिताः—सभी एकत्र होकर।

उस असुर की शक्ति देखकर सभी देवता अत्यन्त आश्चर्यचकित तथा निराश हो गये और उनकी सारी शक्ति जाती रही। अतः वे सभी परमात्मा अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् नारायण की पूजा करके उन्हें प्रसन्न करने के निमित्त एकत्र हुए।

श्रीदेवा ऊचुः
वाय्वम्बराग्न्यक्षितयस्त्रिलोका
ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ
बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; वायु—वायु; अम्बर—आकाश; अग्नि—अग्नि; अप्—जल; क्षितयः—तथा पृथ्वी से निर्मित; त्रि-लोकाः—तीनों लोक; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; ये—जो; वयम्—हम सब; उद्विजन्तः—अत्यन्त उद्विग्न; हराम—प्रदान करते हैं; यस्मै—जिसको; बलिम्—भेंट; अन्तकः—संहर्ता, मृत्यु; असौ—वह; बिभेति—डरता है; यस्मात्—जिससे; अरणम्—शरण; ततः—इसलिए; नः—हमारा ।

देवताओं ने कहा—तीनों लोकों की सृष्टि पंचतत्त्वों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—से हुई हैं, जिनको ब्रह्मा आदि विभिन्न देवता अपने वश में रखते हैं। हम काल से अत्यन्त भयभीत है कि वह हमारे अस्तित्व का अन्त कर देगा, इसलिए वह जैसा चाहता है हम वैसा कार्य करके उसको अपनी भेंट चढ़ाते हैं। किन्तु काल श्रीभगवान् से स्वयं डरता है। अतः हम उसी एकमात्र परमेश्वर की आराधना करें जो हमारी पूरी तरह से रक्षा कर सकता है।

तात्पर्य : जब किसी को मारे जाने का भय हो तो उसे श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ब्रह्मा से लेकर सभी देवता उनकी आराधना करते हैं, यद्यपि वे इस भौतिक जगत के विभिन्न तत्त्वों के स्वामी हैं। बिभेति यस्मात् शब्द बताते हैं कि सभी असुर, चाहे वे कितने महान् तथा शक्तिशाली क्यों न हों, श्रीभगवान् से भयभीत रहते हैं। देवतागण मृत्यु से डरकर भगवान् की शरण में गये और उनसे यह प्रार्थना की यद्यपि काल सबों के लिए भयकारी है, किन्तु काल स्वयं श्रीभगवान् से डरता है, क्योंकि भगवान् को अभय कहते हैं। श्रीभगवान् की शरण में जाने से वास्तविक निर्भीकता आती है, इसलिए सभी देवताओं ने भगवान् की शरण में जाने का निश्चय किया।

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अविस्मितम्—जो कभी विस्मित नहीं होता; तम्—उस (ईश्वर) को; परिपूर्ण-कामम्—परम संतुष्ट; स्वेन—अपने आप से; एव—निस्सन्देह; लाभेन—लाभ; समम्—सम-दृष्टि; प्रशान्तम्—अत्यन्त स्थिर; विना—बिना; उपसर्पति—पास जाता है; अपरम्—अन्य; हि—निस्सन्देह; बालिशः—मूढ़; श्व—कुत्ते की; लाङ्गुलेन—पूँछ से; अतितितर्ति—पार करना चाहता है; सिन्धुम्—समुद्र को ।

भगवान् समस्त सांसारिक कल्पना से रहित और सदैव विस्मयविहीन हैं, वे सदैव प्रसन्नचित्त एवं अपनी स्वरूप-सिद्धि से परम संतुष्ट रहने वाले हैं। उनकी कोई सांसारिक उपाधि नहीं होती, अतः वे स्थिर एवं विरक्त रहते हैं। वही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के एकमात्र आश्रय हैं। अतः जो मनुष्य किसी अन्य से अपनी रक्षा की कामना करता है, वह अवश्य ही बड़ा मूर्ख है और कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है।

तात्पर्य : कुत्ता पानी में तैरना जानता है, किन्तु यदि कुत्ता समुद्र में गोता लगाता हो और कोई उसकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करना चाहे तो वह निपट मूर्ख है। न तो कुत्ता समुद्र पार कर सकता है और न कोई मनुष्य ही उस कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र पार कर सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य अज्ञान के समुद्र को पार करना चाहता है, उसे न तो किसी देवता की, न किसी अन्य की शरण ग्रहण करनी चाहिए। उसे तो एकमात्र श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए। अतः श्रीमद्भागवत (१०.१४.५८) का कथन है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥

भगवान् के चरणकमल अविनश्वर नाव के तुल्य हैं और यदि कोई इस नाव का सहारा लेता है, तो वह अज्ञान-सागर को सरलता से पार कर लेता है। अतः पद-पद में संकटों से ग्रस्त इस भौतिक जगत में रहकर भक्त के लिए कोई भय नहीं रह जाता। मनुष्य को चाहिए कि अपने

बनावटी विचारों के बजाय परम शक्तिमान की शरण खोजे।

यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं
मनुर्यथाबध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयादुरन्तात्
त्राताश्रितान्वारिचरोऽपि नूनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; उरु—अत्यधिक बलवान् तथा ऊँचे; शृङ्गे—सींग पर; जगतीम्—संसार के रूप में; स्व-नावम्—अपनी नाव; मनुः—मनु, राजा सत्यव्रत; यथा—जिस प्रकार; आबध्य—बाँधकर; ततार—पार किया; दुर्गम्—दुर्लभ; सः—वह (श्रीभगवान्); एव—निश्चय ही; नः—हमको; त्वाष्ट्र-भयात्—त्वष्टा के पुत्र के भय से; दुरन्तात्—अन्तहीन; त्राता—रक्षक; आश्रितान्—(हम जैसे) आश्रितों को; वारि-चरः अपि—यद्यपि मछली का रूप धारण करके; नूनम्—निस्सन्देह।

पहले राजा सत्यव्रत नामक मनु ने मत्स्य अवतार के सींग में समग्र ब्रह्माण्ड रूपी छोटी नौका को बाँधकर आत्मरक्षा की थी। उनकी कृपा से मनु ने बाढ़ के महान् संकट से अपने को बचाया था। वे ही मत्स्यावतार त्वष्टा के पुत्र से उत्पन्न इस गम्भीर संकट से हमारी रक्षा करें।

पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भ-
स्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात्पतितस्ततार
तस्माद्भयाद्येन स नोऽस्तु पारः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

पुरा—पहले (सृष्टि के समय); स्वयम्भूः—ब्रह्माजी; अपि—भी; संयम-अम्भसि—बाढ़ के जल में; उदीर्ण—अत्युच्च; वात—वायु के; ऊर्मि—तथा लहरों के; रवैः—शोर से; कराले—अत्यन्त भयावना; एकः—अकेले; अरविन्दात्—कमल आसन से; पतितः—गिरा हुआ; ततार—बच गये; तस्मात्—उस; भयात्—भयानक स्थिति से; येन—जिसके (ईश्वर) द्वारा; सः—वह; नः—हम सबका; अस्तु—हो; पारः—मोक्ष, उद्धार।

सृष्टि के प्रारम्भ में प्रचण्ड वायु से बाढ़ के जल में भयानक लहरें उठने लगीं। इनसे ऐसा भयावना शोर हुआ कि ब्रह्माजी अपने कमल-आसन से प्रलय जल में प्रायः गिर ही पड़े, किन्तु भगवान् की सहायता से वे बच गये। उसी प्रकार हम भी भगवान् से इस भयावह स्थिति से अपनी रक्षा की आशा करते हैं।

य एक ईशो निजमायया नः

ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।

वयं न यस्यापि पुरः समीहतः

पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यः—वह जो; एकः—एक; ईशः—नियन्ता; निज-मायया—अपनी दिव्य शक्ति से; नः—हमको; ससर्ज—उत्पन्न किया; येन—जिसके द्वारा (जिनकी कृपा से); अनुसृजाम—हम भी सृष्टि करते हैं; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; वयम्—हम; न—नहीं; यस्य—जिसका; अपि—यद्यपि; पुरः—हमारे समक्ष; समीहतः—कार्य करने वाले को; पश्याम—देखते; लिङ्गम्—रूप; पृथक्—भिन्न; ईश—नियन्ता रूप में; मानिनः—अपने बारे में सोचते हुए।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् जिन्होंने अपनी बहिरंगा शक्ति से हमारी सृष्टि की और जिनकी कृपा से हम इस विश्व की सृष्टि का विस्तार करते हैं, वे निरन्तर हमारे समक्ष परमात्मा रूप में विद्यमान हैं, किन्तु हम उनके रूप को नहीं देख पाते। हम इसीलिए देखने में असमर्थ हैं, क्योंकि हम सभी अपने आपको पृथक् तथा स्वतंत्र ईश्वर के रूप में मानते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह बताया गया है कि बद्धजीव श्रीभगवान् का साक्षात् दर्शन क्यों नहीं कर पाता। यद्यपि भगवान् हमारे समक्ष भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् रामचन्द्र के रूप में प्रकट होते हैं और मानव-समाज में नायक या राजा के रूप में रहते भी हैं, किन्तु बद्धजीव उन्हें नहीं समझ पाता। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—मूढ़ लोग श्रीभगवान् को सामान्य पुरुष मानकर उनका उपहास करते हैं। अत्यन्त तुच्छ होकर भी हम अपने आपको ईश्वर मान बैठते हैं और सोचते हैं कि हम भी विश्व की रचना कर सकते हैं अथवा दूसरा ईश्वर उत्पन्न कर सकते हैं। यही कारण है कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को न तो देख सकते हैं और न समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य का कथन है—

लिङ्गमेव पश्यामः कदाचिदभिमानस्तु देवानामपि सन्निव ।

प्रायः कालेषु नास्त्येव तारतम्येन सोऽपि तु ॥

हम सभी विभिन्न कोटियों से बद्ध हुए होते हैं, किन्तु हम अपने को ईश्वर समझते हैं।

इसीलिए हम न तो समझ पाते हैं कि ईश्वर कौन है, न ही उनका आमने-सामने दर्शन कर पाते हैं।

यो नः सपत्नैर्भृशमर्दमानान्
 देवर्षितिर्यङ्मृषु नित्य एव ।
 कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया
 कृत्वात्मसात्पाति युगे युगे च ॥ २६ ॥
 तमेव देवं वयमात्मदैवतं
 परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
 ब्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं
 स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; नः—हमको; सपत्नैः—हमारे शत्रुओं, असुरों से; भृशम्—प्रायः; अर्दमानान्—पीड़ित; देव—देवताओं के बीच; ऋषि—साधु पुरुष; तिर्यक्—पशु; नृषु—तथा मनुष्य; नित्यः—सदैव; एव—अवश्य; कृत-अवतारः—अवतार रूप में प्रकट होते हैं; तनुभिः—विभिन्न रूपों में; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; कृत्वा आत्मसात्—अपने को उनका अत्यन्त प्रिय मानकर; पाति—रक्षा करता है; युगे युगे—प्रत्येक कल्प (युग) में; च—तथा; तम्—उसको; एव—निस्सन्देह; देवम्—परमेश्वर; वयम्—हम सभी; आत्म-दैवतम्—समस्त जीवात्माओं के स्वामी; परम्—दिव्य; प्रधानम्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति के मूल कारण; पुरुषम्—परम भोक्ता; विश्वम्—जिसकी शक्ति से यह ब्रह्माण्ड बना; अन्यम्—पृथक् स्थित; ब्रजाम—हम चलें; सर्वे—सभी; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण के उपयुक्त; स्वानाम्—अपने भक्तों को; सः—वह; नः—हमको; धास्यति—प्रदान करेगा; शम्—कल्याण; महात्मा—परमात्मा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी अचिन्त्य अन्तरंगा शक्ति से अनेक दिव्य शरीरों में विस्तार करते हैं, यथा देवताओं की शक्ति के अवतार वामनदेव, ऋषियों के अवतार परशुराम, पशुओं के अवतार नरसिंह देव एवं वराह और जलचरों के अवतार मत्स्य तथा कूर्म। वे सभी प्रकार की जीवात्माओं के बीच विभिन्न दिव्य देह धारण करते हैं और मनुष्यों के बीच विशेष रूप से भगवान् कृष्ण तथा राम के रूप में प्रकट होते हैं। अपनी अहैतुकी कृपा से वे असुरों द्वारा सदा सताये गये देवताओं की रक्षा करते हैं। वे समस्त जीवात्माओं के पूज्य श्रीविग्रह हैं। वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजन शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् हैं, वे विराट रूप में विद्यमान रहते हैं। अतः अपनी इस भयभीत अवस्था में हमें चाहिए कि उनकी शरण ग्रहण करें क्योंकि हमें विश्वास है कि परमात्मा हमें अपना संरक्षण प्रदान करेंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में श्रीभगवान् विष्णु को सृष्टि का आदि कारण माना गया है। श्रीधर स्वामी ने अपने भाष्य *भावार्थ दीपिका* में इसका उत्तर दिया है कि प्रकृति तथा पुरुष इस दृश्य जगत के कारण हैं। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है—*परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम्*—“वे परम कारण हैं और स्त्री तथा पुरुष की सृजनात्मक शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड से पृथक् रहकर अपने विराट रूप में विद्यमान हैं।” यहाँ पर प्रकृति शब्द से परमेश्वर की भौतिक शक्ति तथा पुरुष शब्द से भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति अर्थात् जीव सूचित होती है। जैसा कि *भगवद्गीता* में उल्लेख है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*) अन्ततः प्रकृति तथा पुरुष परमेश्वर में प्रवेश करते हैं।

यद्यपि ऊपर से प्रकृति तथा पुरुष ही भौतिक जगत के कारण प्रतीत होते हैं, किन्तु ये दोनों परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रकाश पुञ्ज हैं। अतः परमेश्वर इन दोनों के कारण हैं। वे ही आदि कारण (*सर्वकारणकारणम्*) हैं। *नारदीय पुराण* का कथन है—

अविकारोऽपि परमः प्रकृतिस्तु विकारिणी ।

अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते ॥

प्रकृति तथा पुरुष दोनों भगवान् से उद्भूत निम्न तथा श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं। जैसा *भगवद्गीता* में कहा गया है (*गाम् आविश्य*) भगवान् प्रकृति में प्रवेश करते हैं तभी प्रकृति विभिन्न जगतों की सृष्टि करती है। प्रकृति स्वतंत्र नहीं है, न ही उनकी शक्तियों के परे। भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव ही सभी वस्तुओं के मूल कारण हैं। इसलिए भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.८) में कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

“मैं प्राकृत जगत और वैकुण्ठ, दोनों का कारण हूँ; मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न होता है; इस प्रकार बुद्धिमान भक्तजन जो इस तत्त्व को भली भाँति समझते हैं श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रेमपूरित हृदय से मेरा निरन्तर भजन करते हैं।” भगवान् ने *श्रीमद्भागवत* (२.९.३३) में भी कहा है—*अहमेवासमेवाग्रे* “सृष्टि के पूर्व मैं ही उपस्थित था।” *ब्रह्माण्ड पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई

है—

स्मृतिरव्यवधानेन प्रकृतित्वमिति स्थितिः ।

उभयात्मकसूतित्वाद्वासुदेवः परः पुमान् ।

प्रकृतिः पुरुषश्चेति शब्दैरेकोऽभिधीयते ॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए भगवान् परोक्ष में पुरुष और प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति की भूमिका निभाते हैं। चूँकि दोनों ही शक्तियाँ सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव से ही उद्भूत हैं इसलिए वे प्रकृति तथा पुरुष दोनों कहलाते हैं। यही कारण है कि वासुदेव प्रत्येक वस्तु के कारण हैं (सर्वकारणकारणम्) ।

श्रीशुक उवाच

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम् ।

प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; तेषाम्—उनका; महाराज—हे राजन्; सुराणाम्—देवताओं का; उपतिष्ठताम्—प्रार्थना करते हुए; प्रतीच्याम्—अन्तःकरण में; दिशि—दिशा में; अभूत्—हो गया; आविः—दृष्टिगोचर; शङ्ख-चक्र-गदा-धरः—दिव्यायुध.

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्! जब समस्त देवताओं ने उनकी प्रार्थना की तो श्रीभगवान् हरि शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए पहले उनके अन्तःकरण में और तब उनके सम्मुख प्रकट हुए ।

आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ ।

पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः ।

दण्डवत्पतिता राजञ्जनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

आत्म-तुल्यैः—अपने समान; षोडशभिः—सोलहों (पार्षदों) से; विना—रहित; श्रीवत्स-कौस्तुभौ—श्रीवत्स चिह्न तथा कौस्तुभ-मणिः; पर्युपासितम्—सभी दिशाओं से सेवित; उन्निद्र—उनींदा; शरत्—शरद् ऋतु का; अम्बुरुह—कमल के समान; ईक्षणम्—नेत्र युक्त; दृष्ट्वा—देखकर; तम्—उस (परमेश्वर, नारायण) को; अवनौ—भूमि पर; सर्वे—वे सभी;

ईक्षण—देखने से; आह्लाद—प्रसन्नतापूर्वक; विकलवाः—विकल होकर; दण्ड-वत्—डण्डे के समान; पतिताः—गिर पड़े; राजन्—हे राजा; शनैः—धीरे-धीरे; उथाय—उठ कर; तुष्टुवुः—प्रार्थना की।

श्रीभगवान् को घेरे हुए उनके सोलह पार्षद उनकी सेवा कर रहे थे। वे आभूषणों से अलंकृत थे और भगवान् के ही समान लग रहे थे, किन्तु श्रीवत्स चिन्ह तथा कौस्तुभमणि से रहित थे। हे राजन्! जब देवताओं ने उस मुद्रा में शरत्कालीन कमल की पंखड़ियों के समान नेत्रों वाले स्मित हास से युक्त श्रीभगवान् को देखा तो वे प्रसन्नता से अभिभूत हो गये और उन्होंने तुरन्त पृथ्वी पर गिर कर दण्डवत् प्रणाम किया। फिर वे धीरे-धीरे उठे और अपनी स्तुतियों द्वारा उन्होंने भगवान् को प्रसन्न किया।

तात्पर्य : वैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् चार भुजाओं से युक्त तथा वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न एवं कौस्तुभमणि धारण करते हैं। ये पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विशिष्ट चिह्न हैं। वैकुण्ठलोक में उनके पार्षद तथा भक्तों के भी उन्हीं के समान स्वरूप होते हैं। उनके केवल श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि नहीं होते।

श्रीदेवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः ।

नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-देवाः ऊचुः—देवताओं ने कहा; नमः—नमस्कार; ते—आपको; यज्ञ-वीर्याय—यज्ञों के फलदाता श्रीभगवान् को; वयसे—काल, जो यज्ञों के फलों का अन्त करने वाला है; उत—यद्यपि; ते—आपको; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—आपको; हि—निस्सन्देह; अस्त-चक्राय—जो अपना चक्र चलाता है; नमः—नमस्कार; सुपुरु-हूतये—अनेक प्रकार के दिव्य नामों से युक्त।

देवताओं ने कहा—हे भगवन्! आप यज्ञ फल को देने में समर्थ हैं। आप ही वह काल हैं, जो इन फलों को कालान्तर में नष्ट कर देता है। आप असुरों को मारने के लिए चक्र को चलाते हैं। हे अनेक नामधारण करनेवाले भगवान्! हम लोग आपको सादर नमस्कार करते हैं।

यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् ।
नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ते—तुम्हारी; गतीनाम् तिसृणाम्—तीन प्रकार के गन्तव्य (स्वर्ग लोक, मर्त्य लोक तथा नरक); ईशितुः—
नियामक; परमम् पदम्—परम धाम, वैकुण्ठलोक; न—नहीं; अर्वाचीनः—बाद में आने वाला पुरुष; विसर्गस्य—सृष्टि;
धातः—हे परम नियामक; वेदितुम्—जानने हेतु; अर्हति—सक्षम है।

हे परम नियामक! आप तीनों गन्तव्यों [स्वर्ग लोक में पहुँचना, मनुष्य के रूप में जन्म तथा नरक में यातना] को वश में रखने वाले हैं, फिर भी आपका परम धाम वैकुण्ठलोक है। चूँकि आपके द्वारा इस दृश्य जगत की उत्पत्ति के बाद हम प्रकट हुए हैं, अतः हम आपके कार्यकलापों को समझने में असमर्थ हैं। अतः हमारे पास आपको अर्पित करने के लिए नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : अनुभवहीन व्यक्ति सामान्यतया यह नहीं जानता कि वह श्रीभगवान् से क्या माँगे। प्रत्येक मनुष्य इस भौतिक सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए ईश्वर से प्रार्थना करते समय कौन-सा वर माँगा जाये कोई नहीं जानता। बहुत से लोग स्वर्गलोक पहुँचने के लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे वैकुण्ठलोक के विषय में कुछ जानते ही नहीं। श्रील मध्वाचार्य ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

देव लोकात् पितृलोकात् निरयाच्चापि यत्परम् ।

तिसृभ्यः परमं स्थानं वैष्णवं विदुषां गतिः ॥

कई प्रकार के लोकमण्डल हैं यथा देवलोक, पितृलोक तथा निरय (नरक)। जब मनुष्य विभिन्न लोकों को पार करके वैकुण्ठलोक पहुँचता है, तो उसे वैष्णवों का परम आवास प्राप्त होता है। वैष्णवों को अन्य लोकों से कोई वास्ता नहीं है।

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण
परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः

परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्धाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत
आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ॐ—हे ईश्वर; नमः—नमस्कार; ते—आपको; अस्तु—हो; भगवन्—हे भगवन्; नारायण—समस्त जीवात्माओं के वास, नारायण; वासुदेव—भगवान् वासुदेव, श्रीकृष्ण; आदि-पुरुष—आदि पुरुष; महा-पुरुष—महा पुरुष; महा-अनुभाव—परम ऐश्वर्यवान्; परम-मङ्गल—परम शुभ; परम-कल्याण—परम आशीर्वाद; परम-कारुणिक—परम करुणामय (दयालु); केवल—परिवर्तनरहित; जगत्-आधार—दृश्य जगत के अवलम्बन्; लोक-एक-नाथ—समस्त लोकों के एकमात्र स्वामी; सर्व-ईश्वर—परम नियामक; लक्ष्मी-नाथ—भाग्य की देवी के पति; परमहंस-परिव्राजकैः—समस्त संसार में भ्रमण करने वाले सर्वोच्च संन्यासी के द्वारा; परमेण—अत्यन्त; आत्म-योग-समाधिना—भक्तियोग में मग्न; परिभावित—अत्यन्त शुद्ध; परिस्फुट—तथा पूर्ण प्रकट; पारमहंस्य-धर्मेण—भक्ति की दिव्य विधि को सम्पन्न करके; उद्धाटित—खोला हुआ; तमः—अज्ञान का; कपाट—जिसमें किवाड़; द्वारे—द्वार पर स्थित; चित्ते—मन में; अपावृते—कल्मषहीन; आत्म-लोके—आत्म जगत में; स्वयम्—अपने आप; उपलब्ध—अनुभव करके; निज—स्वयं के, अपने; सुख-अनुभवः—सुख का अनुभव; भवान्—आप।

हे भगवन्, हे नारायण, हे वासुदेव, हे आदि पुरुष, परम अनुभव, साक्षात् मंगल! हे परम वरदान स्वरूप अत्यन्त कृपालु तथा अपरिवर्तनीय! हे दृश्य जगत के आधार, हे समस्त लोकों तथा प्रत्येक पदार्थ के स्वामी तथा लक्ष्मी देवी के पति! आपका साक्षात्कार श्रेष्ठ संन्यासी ही कर पाते हैं, जो भक्तियोग में पूर्णतया समाधिमग्न होकर सारे विश्व में कृष्णभावनामृत का उपदेश देते हैं। वे अपने ध्यान को आप में ही केन्द्रीभूत रखते हैं, अतः अपने शुद्ध अन्तःकरण में आपके स्वरूप को ग्रहण करते हैं। जब उनके हृदयों का अंधकार पूर्णतया हट जाता है और आपका साक्षात्कार होता है तब उन्हें आपके दिव्य स्वरूप का दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्तियों के सिवाय और कोई आप का अनुभव नहीं कर पाता, अतः हम आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : विभिन्न कोटि के साक्षात्कार के अनुसार भक्तों तथा दिव्यज्ञानियों ने श्रीभगवान् को अपने-अपने अनेक दिव्य नाम प्रदान किये हैं। जब निराकार रूप में उनका अनुभव किया जाता है, तो वे परब्रह्म कहलाते हैं, जब परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता है, तो *अन्तर्यामी* कहलाते हैं और जब वे भौतिक सृष्टि के लिए विविध रूपों में विस्तार करते हैं, तो क्षीरोदकशायी विष्णु गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी विष्णु कहलाते हैं। जब उन्हें चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—के रूप में, जो विष्णु के उक्त तीन रूपों से परे हैं, अनुभव किया

जाता है, तो वे वैकुण्ठ-नारायण कहलाते हैं। नारायण के अनुभव से ऊपर बलदेव का अनुभव है और उसके ऊपर कृष्ण का अनुभव है। ये सभी साक्षात्कार तभी सम्भव हैं जब कोई पूरी तरह से भक्ति में लगा रहे। तभी हृदय के बन्द कपाट खुलते हैं और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विविध रूपों को समझा जा सकता है।

दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन
 ऽसगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

दुरवबोधः—दुर्बोध; इव—अत्यन्त; तव—आपका; अयम्—यह; विहार-योगः—सृष्टि, पालन तथा संहार की लीलाओं में व्यस्तता; यत्—जो; अशरणः—किसी अन्य पर आश्रित न होना; अशरीरः—शरीररहित; इदम्—यह; अनवेक्षित—बिना प्रतीक्षा किये; अस्मत्—हम सबसे; समवायः—सहयोग; आत्मना—आपके द्वारा; एव—निस्सन्देह; अविक्रियमाणेन—बिना परिवर्तित हुए; स-गुणम्—प्रकृति के तीन गुण; अगुणः—ऐसे भौतिक गुणों से दिव्य; सृजसि—आप सृष्टि करते हैं; पासि—पालन करते हैं; हरसि—संहार करते हैं।

हे भगवन्! आपको किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं है। भौतिक शरीर से रहित होने पर भी आपको हमारे सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। चूँकि आप इस दृश्य जगत के कारण हैं और अपरिवर्तित रूप में ही इसके भौतिक अवयवों की पूर्ति करते हैं, अतः आप स्वतः इसकी सृष्टि, पालन तथा संहार करते हैं। तो भी भौतिक कार्यों में व्यस्त प्रतीत होते हुए भी आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं। अतः आपके दिव्य कार्य कलापों को समझ पाना कठिन है।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता (५.३७) में कहा गया है—गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः—भगवान् श्रीकृष्ण गोलोक वृन्दावन में सदैव निवास करते हैं। यह भी कहा गया है—वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति—श्रीकृष्ण वृन्दावन से एक पग भी दूर नहीं जाते। इतने पर भी, यद्यपि श्रीकृष्ण अपने धाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु साथ ही वे सर्वव्यापी होने से सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। बद्धजीव के लिए यह समझ पाना कठिन है किन्तु भक्त समझ सकते हैं कि श्रीकृष्ण किस प्रकार एकसाथ अपने धाम में रहते हुए सर्वव्यापी हैं। देवता भगवान् के शरीर के

विभिन्न अंगस्वरूप समझे जाते हैं, अतः परमेश्वर के देहरहित होते हुए भी उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे सर्वत्र व्याप्त रहते हैं (*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना*)। फिर भी वे अपने आध्यात्मिक रूप में सर्वत्र उपस्थित नहीं रहते। मायावादी दर्शन के अनुसार सर्वव्यापी होने के कारण परमेश्वर को किसी दिव्य रूप की आवश्यकता नहीं पड़ती। मायावादी यह मानते हैं कि ईश्वर का स्वरूप सर्वत्र फैला हुआ है, अतः उनका कोई रूप नहीं होता। यह असत्य है। भगवान् का दिव्य रूप होता है और उसी के साथ वे इस भौतिक सृष्टि के कोने-कोने में फैले हुए हैं।

अथ तत्र भवान्किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं
 ।फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः. ॥
 ३५ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; तत्र—उसमें; भवान्—आप; किम्—क्या; देव-दत्त-वत्—अपने कर्मफल से अधीन सामान्य मनुष्य की भाँति; इह—इस भौतिक जगत में; गुण-विसर्ग-पतितः—भौतिक प्रकृति के गुणों से बाध्य होकर भौतिक शरीर में गिरकर; पारतन्त्र्येण—काल, स्थान, कर्म तथा प्रकृति के आश्रित होने से; स्व-कृत—अपने से किया गया; कुशल—शुभ; अकुशलम्—अशुभ; फलम्—कर्मफल; उपाददाति—स्वीकार करता है; आहोस्वित्—अथवा; आत्मारामः—पूर्णतया आत्म-तृप्त; उपशम-शीलः—आत्मसंयमी; समञ्जस-दर्शनः—पूर्ण आध्यात्मिक शक्तियों से विहीन न होकर; उदास्ते—साक्षी रूप में उदासीन रहता है; इति—इस प्रकार; ह वाव—निश्चय ही; न विदामः—हम समझ नहीं पाते।

ये ही हमारी जिज्ञासाएँ हैं। सामान्य बद्धजीव भौतिक नियमों के अधीन है और उसे अपने कर्मों का फल मिलता है। क्या आप भौतिक गुणों से उत्पन्न शरीर में सामान्य मनुष्यों की भाँति इस संसार में उपस्थित रहते हैं? क्या आप काल, पूर्व कर्म आदि के वशीभूत होकर अच्छे या बुरे कर्मों को भोगते हैं? अथवा, इसके विपरीत क्या आप ऐसे उदासीन साक्षी के रूप में यहाँ उपस्थित हैं, जो आत्मनिर्भर, समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित तथा आध्यात्मिक शक्ति से सदैव परिपूर्ण रहता है? हम निश्चित रूप से आपकी वास्तविक स्थिति को नहीं समझ सकते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे दो प्रकार के उद्देश्यों के लिए इस संसार में

अवतरित होते हैं—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों का विनाश करने। परम सत्य के लिए ये दोनों कार्य एक-से हैं। जब वे असुरों को दंड देने के लिए आते हैं, तो वे उन पर अनुग्रह करते हैं और इसी प्रकार जब वे अपने भक्तों का उद्धार करते हैं, तो उन पर भी अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार वे बद्धजीवों पर समान भाव से अनुग्रह करते हैं। जब बद्धजीव अन्य किसी की रक्षा करता है, तो उसका कार्य पवित्र माना जाता है और जब वह दूसरों को कष्ट देता है, तो उसका कार्य अपवित्र होता है; किन्तु ईश्वर न तो पवित्र हैं और न अपवित्र। वे सदैव अपनी आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा वे दंडनीय तथा रक्षणीय दोनों पर समान अनुग्रह करते हैं। वे *अपापविद्धम्* हैं। वे कभी भी पापकर्मों के फल से दूषित नहीं होते। जब श्रीकृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे तो उन्होंने अनेक वैरी अभक्तों का वध किया, किन्तु उन सबों को सारूप्य प्राप्त हुआ अर्थात् वे अपने पूर्व दिव्य शरीर को प्राप्त कर सके। जो भगवान् की स्थिति से परिचित नहीं है, वह कहता है कि भगवान् उस पर अकृपालु हैं, किन्तु दूसरों पर दयालु हैं। वास्तव में भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा है—*समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः*—“मैं सबों के लिए समान हूँ। न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र।” किन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं—*ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्*—“यदि कोई मेरा भक्त हो जाता है और पूरी तरह मेरी शरण में आ जाता है, तो मैं उसका विशेष ध्यान रखता हूँ।”

न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिमितगुणगण

**ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रय
दुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरत ऽसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट
इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥ ३६ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निश्चय ही; विरोधः—विरोध; उभयम्—दोनों; भगवति—भगवान् में; अपरिमित—असीम; गुण-गणे—जिसके दिव्य गुण; ईश्वरे—परम नियन्ता में; अनवगाह्य—से युक्त; माहात्म्ये—अथाह शक्ति तथा महिमा; अर्वाचीन—आधुनिक; विकल्प—विकल्प; वितर्क—विरोधी तर्क; विचार—विचार; प्रमाण-आभास—अपूर्ण प्रमाण; कुतर्क—बेकार के तर्क; शास्त्र—अवैध धर्मग्रंथों के द्वारा; कलिल—विशुद्ध; अन्तःकरण—मन; आश्रय—जिसकी शरण; दुरवग्रह—दुराग्रहों से; वादिनाम्—सिद्धान्तवादियों का; विवाद—झगड़ों का; अनवसरे—सीमा से बाहर; उपरत—

हटाकर; समस्त—जिनसे सब; माया-मये—माया; केवले—अकेला, अद्वितीय; एव—निस्सन्देह; आत्म-मायाम्—माया, जो सब कुछ बना-बिगाड़ सकती है; अन्तर्धाय—बीच में रखकर; कः—क्या; नु—निस्सन्देह; अर्थः—अर्थ; दुर्घटः—असम्भव; इव—मानो; भवति—है; स्व-रूप—प्रकृतियाँ; द्वय—दो के; अभावात्—कमी से।

हे भगवन्! सभी विरोधों का आप में तिरोधान होता है। हे ईश्वर! चूँकि आप परम पुरुष, अनन्त दिव्य गुणों के आगार, परम नियन्ता हैं, अतः आपकी असीम महिमा बद्धजीवों की कल्पना के परे है। अनेक सिद्धान्तवादी बिना जाने कि वास्तव में सच क्या है, सत्य तथा मिथ्या के विषय में तर्क करते हैं। उनके तर्क झूठे होते हैं और फैसले अनिर्णीत, क्योंकि उनके पास आपको जानने का कोई वैध प्रमाण नहीं है। चूँकि उनके मन धर्म ग्रंथों के झूठे निष्कर्षों से विक्षुब्ध रहते हैं, अतः वे यह नहीं समझ पाते कि सत्य क्या है। यही नहीं, सही-सही निष्कर्ष प्राप्त करते समय उनकी उत्कण्ठा दूषित रहती है, जिससे उनके सिद्धान्त आपका वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि आप उनकी भौतिक बुद्धि से परे हैं। आप अद्वितीय हैं, अतः आप में करणीय तथा अकरणीय, सुख तथा दुख जैसे विरोध नहीं हैं। आपकी उस शक्ति के द्वारा आपके लिए क्या असम्भव है? आपकी स्वाभाविक स्थिति द्वैत से रहित है, अतः आप अपनी शक्ति के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं।

तात्पर्य : आत्मनिर्भर होने के कारण श्रीभगवान् दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत (आत्माराम) हैं। वे दो प्रकार से आनन्द उठाते हैं—जब वे प्रसन्न होते हैं और जब वे दुखी होते हैं। उनमें भेद तथा विरोध कर पाना कठिन है क्योंकि इनका उदय उन्हीं से होता है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् समस्त ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य तथा प्रभाव के आगार हैं। उनकी शक्तियों का वारपार नहीं है। वे समस्त दिव्य गुणों की खान हैं। इस संसार का कोई भी दुष्कृत्य उनमें रह नहीं सकता। वे दिव्य तथा चिन्मय हैं, अतः उन पर भौतिक सुख तथा दुख की अवधारणाएँ लागू नहीं होतीं।

यदि श्रीभगवान् में विरोधी बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वास्तव में उनमें कोई विरोध नहीं है। उनके सर्वोपरि होने का यही अर्थ है। सर्वशक्तिमान होने के कारण उनका अस्तित्व होने या अस्तित्व न होने के विषय में बद्धजीवों के तर्क लागू नहीं होते। वे अपने भक्तों

की रक्षा के लिए उनके शत्रुओं का प्रसन्नतापूर्वक वध करते हैं। उन्हें संहार तथा पालन दोनों में प्रसन्नता होती है।

ऐसी अद्वैतता न केवल भगवान् पर वरन् उनके भक्तों पर भी लागू होती है। वृन्दावन में ब्रजभूमि की बालाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के साहचर्य का दिव्य आनन्द प्राप्त करती हैं और जब कृष्ण तथा बलराम वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं, तो उनके वियोग में भी वे वैसे ही दिव्य आनन्द का अनुभव करती हैं। भौतिक कष्ट या आनन्द का श्रीभगवान् अथवा उनके शुद्ध भक्तों के लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यद्यपि कभी-कभी ऊपर से यह कहा जाता है कि वे कष्ट में हैं या प्रसन्न हैं। जो *आत्माराम* है, वह दोनों स्थितियों में आनन्दमग्न रहता है।

जो अभक्त हैं, वे श्रीभगवान् के अथवा उनके भक्तों के इन विरोधों को नहीं समझ सकते। अतः *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं— *भक्त्या मामभिजानाति*—भक्ति से ही दिव्य लीलाएँ समझी जा सकती हैं; अभक्तों के लिए वे कल्पनीय हैं। *अचिन्त्याः खलुः ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्*—अभक्तों के लिए परमेश्वर तथा उनका रूप, नाम, लीलाएँ तथा साज सामग्री सभी अकल्पनीय हैं। मनुष्य को चाहिए कि तर्क के द्वारा वे ऐसे सत्यों को समझने का प्रयास न ही करें। तर्क से परम सत्य भगवान् के विषय में सही निष्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा।

समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सम—समान या उचित; विषम—तथा असमान या अनुचित; मतीनाम्—बुद्धिमानों का; मतम्—निष्कर्ष; अनुसरसि—पालन करते हो; यथा—जिस प्रकार; रज्जु-खण्डः—रस्सी का टुकड़ा; सर्प-आदि—साँप इत्यादि.; धियाम्—देखने वालों का।

मोहग्रस्त पुरुष रस्सी को सर्प मान बैठता है, अतः उसे रस्सी भय उत्पन्न करती है, किन्तु समुचित बुद्धि वाले मनुष्य में रस्सी ऐसा नहीं कर पाती क्योंकि वह इसे केवल रस्सी ही जानता है। इसी प्रकार सबों के हृदयों में उनकी बुद्धि के ही अनुसार परमात्मा-स्वरूप आप भय या निर्भीकता का भाव उत्पन्न करने वाले हैं, किन्तु आप स्वयं अद्वैत हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.११) में भगवान् कहते हैं—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्—“जो जिस भाव से मेरी शरण में आता है मैं उसी के अनुसार उसे फल देता हूँ।” श्रीभगवान् समस्त ज्ञान, सत्य तथा समस्त विरोधों के आगार हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण अत्यन्त सार्थक है। रस्सी का होना एक सत्य है, किन्तु कुछ लोग भ्रम से इसे सर्प मानते हैं, तो दूसरे लोग इसे रस्सी ही समझते हैं। इसी प्रकार से भक्त जो लोग श्रीभगवान् को जानते हैं उनमें विरोधों को नहीं देखते, किन्तु जो अभक्त हैं, वे उन्हें सर्प की भाँति समस्त प्रकार के भय का स्रोत मानते हैं। उदाहरणार्थ, जब नृसिंहदेव प्रकट हुए तो प्रह्लाद महाराज ने उन्हें परमशान्ति के रूप में देखा जबकि उनके असुर पिता ने अपनी परम मृत्यु के रूप में। जैसा श्रीमद्भागवत (११.२.३) में कहा गया है: भयं द्वितीयामिति वे शतः स्थात् जब मुनष्य में द्वैत भाव रहता है तभी वह भय तथा आनन्द दोनों को जानता है। वही भगवान् भक्तों के लिए आनन्द का स्रोत है और ज्ञानविहीन अभक्तों के लिए भय का। ईश्वर एक है, किन्तु लोग उसे विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। अज्ञानी उसमें विरोध पाते हैं, किन्तु शान्त भक्तों को कोई विरोध नहीं दिखता।

**स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः
सर्वं प्रत्यगात्मत्वात्सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः. ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

सः—वे (श्रीभगवान्); एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; पुनः—फिर; सर्व-वस्तुनि—भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी वस्तुओं में; वस्तु-स्वरूपः—वस्तु; सर्व-ईश्वरः—सभी वस्तुओं के नियन्ता; सकल-जगत्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में; कारण—कारणों का; कारण-भूतः—कारण बनकर; सर्व-प्रत्यक्-आत्मत्वात्—प्रत्येक वस्तु का परमात्मा होने अथवा प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि परमाणु में भी उपस्थित होने के कारण; सर्व-गुण—प्रकृति के सभी गुणों के प्रभावों का (यथा बुद्धि तथा इन्द्रियाँ); आभास—प्रकाश से; उपलक्षितः—देखा गया; एकः—अकेला; एव—निस्सन्देह; पर्यवशेषितः—शेष छूटा हुआ।

विचार-विमर्श से यह देखा जा सकता है कि परमात्मा यद्यपि विभिन्न प्रकार से प्रकट होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व वे ही हैं। सम्पूर्ण भौतिक शक्ति इस संसार का कारण है, किन्तु यह शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अतः वे ही समस्त कारणों के कारण हैं और बुद्धि तथा इन्द्रियों के प्रकाशक हैं। वे प्रत्येक वस्तु में परमात्मा रूप में देखे जाते हैं। उनके

बिना प्रत्येक वस्तु मृत हो जायेगी। परमात्मा रूप में आप परम नियन्ता ही एकमात्र शेष बचे हैं।

तात्पर्य : सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः शब्दों से सूचित होता है कि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु के मूल सिद्धान्त हैं। ब्रह्म-संहिता (५.३५) में कहा गया है कि—

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।

अण्डान्तरस्थपरमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने अंशों के रूप में ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रवेश करते हैं और समस्त भौतिक सृष्टि में अपनी अनन्त शक्ति को प्रकट करते हैं।” भगवान् परमात्मा रूप अपने एक ही अंश अन्तर्यामी द्वारा अनन्त ब्रह्माण्डों में व्याप्त हैं। वे प्रत्यक् अर्थात् अन्तर्यामी हैं। भगवद्गीता (१३.३) में भगवान् कहते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत—*“हे भरतवंशी! तुम जानो कि मैं सभी देहों को जानने वाला(क्षेत्रज्ञ) भी हूँ।” चूँकि भगवान् परमात्मा हैं, अतः वे प्रत्येक जीव के, यहाँ तक कि परमाणु के भी, मूल तत्त्व हैं (अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थम्)। वे ही असली सत्य हैं। बुद्धि की विभिन्न अवस्थाओं से मनुष्य प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर की उपस्थिति को उनकी शक्ति के प्राकट्य से जान पाता है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तीन गुणों से व्याप्त है और मनुष्य अपने भौतिक प्रकृति के गुण के अनुसार ही उनके अस्तित्व को समझ सकता है।

अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूत ।प्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्तः. ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

अथ ह—अतः; वाव—निस्सन्देह; तव—तुम्हारी; महिम—महिमा का; अमृत—अमृत का; रस—रस का; समुद्र—समुद्र की; विप्रुषा—एक बूँद से; सकृत्—केवल एक बार; अवलीढया—चखा जाकर; स्व-मनसि—अपने मन में; निष्यन्दमान—प्रवाहित; अनवरत—निरन्तर; सुखेन—दिव्य आनन्द से; विस्मारित—विस्मृत; दृष्ट—भौतिक दृष्टि से; श्रुत—तथा ध्वनि; विषय-सुख—भौतिक सुख का; लेश-आभासाः—झलक मात्र; परम-भागवताः—महान् भक्तगण; एकान्तिनः—एकनिष्ठ श्रद्धा रखने वाले; भगवति—श्रीभगवान् में; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं को; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; सुहृदि—मित्र; सर्व-आत्मनि—सबों का परमात्मा; नितराम्—पूर्णतः; निरन्तरम्—सतत; निर्वृत—सुख से; मनसः—जिनके मन; कथम्—किस प्रकार; उह—तब; वा—अथवा; एते—ये; मधु-मथन—हे मधु नामक असुर के मारने वाले; पुनः—फिर; स्व-अर्थ-कुशलाः—जो स्वार्थ में कुशल हैं; हि—निस्सन्देह; आत्म-प्रिय-सुहृदः—जिन्होंने आपको परमात्मा, परमप्रिय तथा मित्र रूप में अंगीकार किया है; साधवः—भक्तगण; त्वत्-चरण-अम्बुज-अनुसेवाम्—आपके चरणारविन्द की सेवा; विसृजन्ति—छोड़ सकते हैं; न—नहीं; यत्र—जिसमें; पुनः—फिर; अयम्—यह; संसार-पर्यावर्तः—इस संसार में जन्म-मरण का चक्कर।

अतः हे मधुसूदन! जिन्होंने आपकी महिमा के समुद्र की एक भी अमृतमयी बूँद को चख लिया है, उनके मन में निरन्तर आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। ऐसे महात्मा भक्त दृश्य तथा श्रवणेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले तथाकथित भौतिक सुख की झलक को भूल जाते हैं। ऐसे भक्त समस्त इच्छाओं से मुक्त होकर सभी जीवात्माओं के वास्तविक मित्र होते हैं। वे अपने मन को आप में समर्पित करके दिव्य आनन्द उठाते हुए जीवन के असली उद्देश्य को प्राप्त करने में कुशल होते हैं। हे भगवन्! आप ऐसे भक्तों के, जिन्हें इस भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आना पड़ता, प्रिय मित्र एवं आत्मा हैं। भला वे आपकी भक्ति को किस प्रकार त्याग सकते हैं?

तात्पर्य : यद्यपि अभक्त लोग अपने अल्पज्ञान तथा तर्क-वितर्क की आदत के कारण भगवान् की वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ पाते, किन्तु एक भक्त, जिसने भगवान् के चरणारविन्द का अमृत एक बार भी पान किया है, जानता है कि भगवान् की भक्ति में कितना दिव्य आनन्द प्राप्त होता है। वह जानता है कि भगवान् की सेवा करके वह सबकी सेवा कर लेता है। अतः भक्तगण समस्त जीवात्माओं के असली मित्र हैं। केवल शुद्ध भक्त ही समस्त बद्धजीवों के कल्याण हेतु भगवान् की महिमा का उपदेश दे सकता है।

त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि
तेषामुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रित जलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर
दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन-आत्म-भवन—हे भगवान्, आप लोकों के आश्रय हैं क्योंकि आप तीनों लोकों के परमात्मा हैं; त्रि-विक्रम—हे वामनरूप धारी भगवान्, आपकी शक्ति तथा ऐश्वर्य तीनों लोकों में फैले हैं; त्रि-नयन—तीनों लोकों के पालक तथा दूत; त्रि-लोक-मनोहर-अनुभाव—हे तीन लोकों में परम सुन्दर दिखाई पड़ने वाले; तव—तुम्हारा; एव—निश्चय ही; विभूतयः—शक्ति के अंश; दिति-ज-दनु-ज-आदयः—दिति के असुर पुत्र तथा दानव, जो अन्य प्रकार के असुर हैं; च—तथा; अपि—(मनुष्य) भी; तेषाम्—उन सबों में से; उपक्रम-समयः—उन्नति का अवसर; अयम्—यह; इति—इस प्रकार; स्व-आत्म-मायया—आपकी स्वयं की शक्ति से; सुर-नर-मृग-मिश्रित-जलचर-आकृतिभिः—विभिन्न रूपों से यथा देवता, मनुष्य, पशु, मिश्रित तथा जलचर (वामन, भगवान् रामचन्द्र, कृष्ण, वराह, हयग्रीव, नृसिंह, मत्स्य तथा कूर्म अवतार); यथा-अपराधम्—अपने अपने अपराधों के अनुसार; दण्डम्—दंड, सजा; दण्ड-धर—हे परम दण्डदाता; दधर्थ—आपने फल दिया; एवम्—इस प्रकार; एनम्—यह एक (वृत्रासुर); अपि—भी; भगवन्—हे भगवन्; जहि—मार डालिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र; उत—निस्सन्देह; यदि मन्यसे—यदि उचित समझते हैं, तो।

हे भगवन्, हे साक्षात् त्रिलोकी, तीनों लोकों के जनक! हे वामन अवतार के रूप में तीनों लोकों के पराक्रम! हे नृसिंहदेव के त्रि-नेत्र रूप, हे तीनों लोकों में परम सुन्दर पुरुष! प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी जिसमें मनुष्य तथा दैत्य और दानव भी सम्मिलित हैं, आपके ही शक्ति के अंश हैं। हे परम शक्तिमान! जब-जब असुर शक्तिशाली हुए हैं तब-तब आप उन्हें दण्ड देने के लिए विभिन्न अवतारों के रूप में प्रकट हुए हैं। आप भगवान् वामनदेव, राम और कृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं। कभी आप पशु के रूप में प्रकट होते हैं यथा भगवान् वराह, तो कभी मिश्रित अवतार के रूप में यथा भगवान् नृसिंहदेव तथा भगवान् हयग्रीव और कभी जलचर रूप में यथा भगवान् मत्स्य तथा भगवान् कूर्म। आपने ऐसे अनेक रूप धारण करके सदैव असुरों तथा दानवों को दण्ड दिया है। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप यदि आवश्यक समझें तो महा असुर वृत्रासुर को मारने के लिए आज किसी अन्य अवतार के रूप में प्रकट हों।

तात्पर्य : भक्त की दो कोटियाँ हैं—सकाम तथा अकाम। विशुद्ध भक्त अकाम होते हैं, किन्तु स्वर्गलोक के भक्त, यथा देवतागण सकाम कहलाते हैं क्योंकि वे अब भी भौतिक ऐश्वर्य भोगना चाहते हैं। अपने पुण्यकर्मों के कारण सकाम भक्तों को स्वर्ग भेज दिया जाता है, किन्तु तब भी

उनके हृदय में भौतिक स्रोतों पर प्रभुत्व जमाने की कामना बनी रहती है। ये सकाम भक्त कभी-कभी असुरों तथा राक्षसों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि विविध अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् के अवतार इतने शक्तिशाली होते हैं कि भगवान् वामनदेव ने तो दो ही पगों में सारे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था और तीसरा पग रखने के लिए उन्हें कहीं स्थान ही नहीं मिला। भगवान् को त्रिविक्रम इसलिए कहा जाता है क्योंकि उन्होंने तीन पगों में ही सारे ब्रह्माण्ड को जीत कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था।

सकाम तथा अकाम भक्तों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि सकाम भक्त, यथा देवतागण, संकट में पड़ने पर उद्धार के लिए भगवान् की शरण में पहुँचते हैं, किन्तु अकाम भक्त बड़ी से बड़ी विपदा में पड़ने पर भी स्वार्थ के लिए भगवान् को कभी कष्ट नहीं देते। यदि अकाम भक्त को कष्ट होता है, तो वह समझता है कि ऐसा उसके पूर्व दुष्कृत्यों का फल है, अतः फलों का भोग करता है। वह अपने को भगवान् को कष्ट नहीं देता। सकाम भक्त संकट आने पर तुरन्त भगवान् की प्रार्थना करता है, किन्तु वह पवित्र माना जाता है क्योंकि वह अपने को भगवान् की कृपा पर पूर्णतया निर्भर मानता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.१४.८) में कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो

भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते

जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

कठिनाइयों से ग्रस्त होने पर भी भक्त अधिक उत्साह से प्रार्थना करते हैं और सेवा करते हैं। इस प्रकार वे भक्ति में स्थिर हो जाते हैं और भगवान् के धाम लौटने के पात्र बन जाते हैं। निस्सन्देह सकाम भक्त अपनी प्रार्थनाओं से भगवान् से मनवांछित फल प्राप्त करते हैं, किन्तु वे भगवान् के पास तुरन्त वापस जाने के योग्य नहीं हो पाते। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् विष्णु अपने समस्त अवतारों में सदैव अपने भक्तों के रक्षक रहे हैं। श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—

विविधं भावपात्रत्वात् सर्वे विष्णोर्विभूतयः। श्रीकृष्ण ही आदि भगवान् हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। अन्य सभी भगवान् विष्णु के अवतार हैं।

अस्माकं तावकानां तततत नतानां हरे तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां
स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन
विगलित मधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि शमयितुम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अस्माकम्—हमारा; तावकानाम्—जो आप पर पूर्णतया आश्रित हैं, निज जन; तत-तत—हे पिता के पिता अर्थात् पितामह; नतानाम्—जिन्होंने पूर्णतया आपको आत्मसमर्पण कर दिया है; हरे—हे हरि; तव—तुम्हारे; चरण—पाँवों पर; नलिन-युगल—दो नील कमलों के समान; ध्यान—मनन से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदय—हृदय में; निगडानाम्—जिसकी जंजीरें (बंधन); स्व-लिङ्ग-विवरणे—अपना रूप प्रकट करके; आत्मसात्-कृतानाम्—जिन्होंने आपको अपना लिया है; अनुकम्पा—दयाभाव से; अनुरञ्जित—रंजित होकर; विशद—चमकीला; रुचिर—अत्यन्त मनोहर; शिशिर—शीतल; स्मित—मंद हँसी से युक्त; अवलोकेन—अपनी चितवन से; विगलित—दयाभाव से पिघला हुआ; मधुर-मुख-रस—आपके मुख से अत्यन्त मीठे शब्द; अमृत-कलया—अमृत की बूँदों से; च—तथा; अन्तः—अन्तःकरण में; तापम्—अधिक जलन; अनघ—हे परम पवित्र; अर्हसि—आपको चाहिए; शमयितुम्—शान्त करना।

हे परम रक्षक, हे पितामह, हे परम पवित्र, हे परमेश्वर! हम सभी आपके चरणकमलों पर समर्पित हैं। दरअसल, हमारे मन ध्यान में प्रेम-पाश द्वारा आपके चरणाविन्द से बँधे हुए हैं। अब आप अपना अवतार-रूप प्रकट कीजिये। हमें आप अपना शाश्वत दास तथा भक्त मानकर हम पर प्रसन्न हों और हमारे ऊपर दया करें। आप अपनी प्रेमपूर्ण चितवन, शीतल तथा दयापूर्ण मनमोहक हँसी तथा सुन्दर मुख से झरने वाले अमृत शब्दों से हम सबों की उस चिन्ता को दूर करें जो वृत्रासुर के कारण उत्पन्न हुई है और सदैव हमारे हृदयों को कष्ट देती है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी को देवताओं का पिता कहा जाता है, किन्तु श्रीकृष्ण अथवा भगवान् विष्णु ब्रह्माजी के पिता हैं क्योंकि उनकी नाभि से निकले कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ।

अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमायाविनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण

आकाश शरीरस्य साक्षात्परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वार्थविशेषो विज्ञापनीयः
स्याद्विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः. ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; अस्माभिः—हम सबों के द्वारा; अखिल—सम्पूर्ण; जगत्—भौतिक संसार की; उत्पत्ति—उत्पत्ति का; स्थिति—पालन; लय—तथा संहार; निमित्तायमान—कारण होने से; दिव्य—माया—आध्यात्मिक शक्ति से; विनोदस्य—आपका, जो स्वयं ही विनोद करने वाले हैं; सकल—समस्त; जीव-निकायानाम्—जीवात्माओं के समूहों का; अन्तः-हृदयेषु—हृदयों के भीतर; बहिः अपि—बाहर से भी; च—तथा; ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म अथवा परम सत्य; प्रत्यक्-आत्म—परमात्मा का; स्व-रूपेण—अपने रूपों के द्वारा; प्रधान-रूपेण—बाह्य अवयवों के रूप में अपने स्वरूप द्वारा; च—तथा; यथा—के अनुसार; देश-काल-देह-अवस्थान—देश, काल, शरीर तथा अवस्था का; विशेषम्—विशेष; तत्—उन सबका; उपादान—भौतिक कारणों का; उपलम्भकतया—प्रकाशक के रूप में; अनुभवतः—साक्षी बनकर; सर्व-प्रत्यय-साक्षिणः—विभिन्न कार्यों का साक्षी; आकाश-शरीरस्य—समस्त ब्रह्माण्ड का परमात्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; पर-ब्रह्मणः—परब्रह्म, परम सत्य; परमात्मनः—परमात्मा; कियान्—किस हद तक; इह—यहाँ; वा—अथवा; अर्थ-विशेषः—विशेष आवश्यकता; विज्ञापनीयः—सूचित करने योग्य; स्यात्—हो सकता है; विस्फुलिङ्ग-आदिभिः—अग्नि की चिनगारियों के द्वारा; इव—सदृश; हिरण्य-रेतसः—आदि अग्नि को।

हे भगवान्! जिस प्रकार अग्नि की छोटी-छोटी चिनगारियाँ पूर्ण (आदि) अग्नि का कार्य करने में असमर्थ हैं, वैसे ही आपकी चिनगारी रूप हम सभी अपने जीवन की आवश्यकता बता पाने में अक्षम हैं। आप पूर्ण ब्रह्म हैं, अतः हमें आपको बताने की क्या आवश्यकता? आप सब कुछ जानने वाले हैं क्योंकि आप दृश्य जगत के आदि कारण, इसके पालक तथा सम्पूर्ण सृष्टि के संहर्ता हैं। आप अपनी दिव्य तथा भौतिक शक्तियों से लीलाएँ करते रहते हैं क्योंकि आप ही इन समस्त शक्तियों के नियामक हैं। आप इन विभिन्न शक्तियों के नियामक हैं। आप सभी जीवों के भीतर दृश्य सृष्टि में और उस से परे भी रहते हैं। आप अन्तःकरणों में परब्रह्म के रूप में और बाह्यतः भौतिक सृष्टि के अवयवों के रूप में स्थित हैं। अतः यद्यपि आप विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न कालों तथा स्थानों और विभिन्न देहों में प्रकट होते रहते हैं, तो भी हे भगवन्! आप ही समस्त कारणों के आदि कारण हैं। वास्तव में आप ही मूल तत्त्व हैं। आप समस्त गतिविधियों के साक्षी हैं, किन्तु आकाश के समान महान् होने के कारण किसी के द्वारा स्पृश्य नहीं हैं। आप परब्रह्म तथा परमात्मा के रूप में प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। हे भगवान्! आपसे कुछ भी छिपा नहीं है।

तात्पर्य : परम सत्य आध्यात्मिक ज्ञान की तीन अवस्थाओं में स्थित हैं—ब्रह्म, परमात्मा तथा

श्रीभगवान् (ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते) । भगवान् अर्थात्; पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही ब्रह्म तथा परमात्मा का कारण है। ब्रह्म अर्थात् निराकार परम सत्य सर्वव्यापक है और परमात्मा स्थानीय रूप में प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है, किन्तु भगवान् जो भक्तों के द्वारा आराध्य है, समस्त कारणों का मूल कारण है। शुद्ध भक्त जानता है कि कुछ भी ऐसा नहीं जो श्रीभगवान् को ज्ञात न हो, अतः भक्त की सुविधाओं-असुविधाओं के लिए उनसे निवेदन करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए जब देवताओं ने परमेश्वर से वृत्रासुर के आक्रमणों से होने वाले कष्टों का निवेदन किया, तो उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए की गई प्रार्थना के लिए क्षमा-याचना की। निस्सन्देह नवदीक्षित भक्त दुख या निर्धनता से छुटकारा पाने अथवा ज्ञान-प्राप्ति के लिए ईश्वर के पास जाता है। *भगवद्गीता* (७.१६) में ऐसे चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन है, जो ईश्वर की भक्ति करना प्रारम्भ करते हैं—आर्त (दुखी), अर्थार्थी(धन चाहने वाला), जिज्ञासु(जिज्ञासा रखने वाला) तथा ज्ञानी (जो परम सत्य की खोज करता है)। किन्तु शुद्ध भक्त जानता है कि ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञाता हैं, अतः किसी व्यक्तिगत लाभ के लिए उनकी पूजा या प्रार्थना करना व्यर्थ है। शुद्ध भक्त किसी आकांक्षा के बिना भगवान् की सेवा करता है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और अपने भक्तों की आवश्यकताओं को जानता है फलतः भौतिक लाभों के लिए याचना करके उन्हें कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

**अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां
विविधवृजिन ।संसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४३ ॥**

शब्दार्थ

अत एव—अतः; स्वयम्—अपने आप; तत्—वह; उपकल्पय—कृपया प्रबन्ध करें; अस्माकम्—हमारा; भगवतः—श्रीभगवान् का; परम-गुरोः—सबसे बड़ा गुरु; तव—तुम्हारा; चरण—पाँवों का; शत-पलाशत्—एक सौ पंखड़ियों वाले कमल पुष्प की भाँति; छायाम्—छाया; विविध—अनेक; वृजिन—घातक स्थितियों से; संसार—इस बद्ध जीवन का; परिश्रम—कष्ट; उपशमनीम्—छुटकारा दिला कर; उपसृतानाम्—आपके चरणकमलों में शरण लेने वाले भक्त; वयम्—हम; यत्—जिसके लिए; कामेन—इच्छाओं से; उपसादिताः—(आपके चरणकमलों की शरण में) आने को बाध्य।

हे भगवान्! आप सर्वज्ञाता हैं, अतः आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम आपके

चरणकमलों की शरण में क्यों आये हैं, जिनकी छाया समस्त भौतिक अशान्तियों से छुटकारा दिलाने वाली है। चूँकि आप परम गुरु हैं और सब कुछ जानते हैं, अतः हमने आदेश प्राप्त करने के लिए आपके चरणकमलों का आश्रय लिया है। कृपया हमारे वर्तमान दुखों को दूर करके हमें शरण दीजिये। आपके चरणकमल ही पूर्ण समर्पित भक्त के एकमात्र आश्रय हैं और इस भौतिक जगत के संतापों को शमित करने के एकमात्र साधन हैं।

तात्पर्य : मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की छाया का ही आश्रय लेना चाहिए। तभी उसे विचलित करने वाले समस्त भौतिक संताप उसी प्रकार शमित हो सकेंगे जिस प्रकार विशाल वृक्ष की छाया में झुलसाने वाली धूप का ताप बिना माँगे तुरन्त शमित हो जाता है। अतः बद्धजीव का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर के चरणकमलों की प्राप्ति होना चाहिए। ईश्वर के चरणकमलों की शरण पाकर बद्धजीव के समस्त सांसारिक संतापों का शमन हो सकता है।

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् ।

ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथो—अतः; ईश—हे परम नियन्ता; जहि—मारिये; त्वाष्ट्रम्—त्वष्टा के पुत्र, वृत्रासुर को; ग्रसन्तम्—जो निगले जा रहा है; भुवन-त्रयम्—तीनों लोक; ग्रस्तानि—निगले हुए; येन—जिसके द्वारा; नः—हमारा; कृष्ण—हे भगवान् श्रीकृष्ण; तेजांसि—समस्त शक्ति तथा तेज; अस्त्र—तीर; आयुधानि—तथा अन्य हथियार; च—भी।

अतः हे परम नियन्ता, हे भगवान् श्रीकृष्ण! त्वष्टा के पुत्र इस घातक असुर वृत्रासुर का संहार कीजिये। जिसने हमारे समस्त शस्त्रास्त्र, युद्ध की सारी सामग्री तथा हमारे बल और तेज को निगल रखा है।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.१५-१६) में भगवान् कहते हैं—

न मां दृष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

“माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए, मनुष्यों में अधम और पाप करने वाले मूढ़ मेरी शरण में नहीं आते। हे भारत (अर्जुन)! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा रखने वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।”

ये चार प्रकार के नवदीक्षित भक्त जो भौतिक लाभों की दृष्टि से भगवान् की भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में जाते हैं वह शुद्ध भक्त नहीं हैं, किन्तु ऐसे सांसारिक भक्तों को यह लाभ है कि वे कभी-कभी भौतिक इच्छाओं को त्याग कर शुद्ध भक्त बन जाते हैं। जब देवता अपने को निरुपाय पाते हैं, तो दुख के कारण अश्रुपूर्ण होकर प्रार्थना करते हुए भगवान् के पास जाते हैं और इस प्रकार वे लगभग शुद्ध भक्त बन जाते हैं और भौतिक वासनाओं से मुक्त रहते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि परम ऐश्वर्य के भौतिक अवसरों के कारण ही वे ईश्वर की शुद्ध भक्ति करना भूल गये थे, अतः वे ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देते हैं। फिर ईश्वर चाहे तो उनका पालन करें या संहार करें। ऐसा आत्मसमर्पण आवश्यक है। भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—*मारिब राखबि—यो इच्छा तोहारा*—“हे भगवान्! मैं आपके चरणकमलों पर पूर्णतया समर्पित हूँ। अब आपकी जैसी इच्छा—चाहे मुझे बचाएँ या मारें। आपको दोनों का अधिकार है।”

हंसाय दह्निलयाय निरीक्षकाय

कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।

सत्सङ्ग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्ता-

वन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

हंसाय—महान् तथा शुद्ध को (पवित्रं परमम्, परम शुद्ध); दह्न—अन्तःस्थल में; निलयाय—जिसका धाम; निरीक्षकाय—प्रत्येक आत्मा की गतिविधियों का निरीक्षण करने के लिए; कृष्णाय—परमात्मा को, जो श्रीकृष्ण के अंश रूप हैं; मृष्ट-यशसे—जिनका यश अत्यन्त प्रकाशमान है; निरुपक्रमाय—जिसका आदि नहीं है, अनादि; सत्-सङ्ग्रहाय—शुद्ध भक्तों द्वारा ज्ञेय; भव-पान्थ-निज-आश्रम-आप्तौ—इस भौतिक जगत में प्राणियों के लिए श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करके;

अन्ते—अन्त में; परीष्ट-गतये—जीवन की सबसे बड़ी सफलता, उन श्रीभगवान् को जो परम-लक्ष्य हैं; हरये—श्रीभगवान् को; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुम्हें (आपको)।

हे भगवान्! हे परम शुद्ध! आप सबों के अन्तःस्थल में रहते हैं और बद्धजीवों की समस्त आकांक्षाओं तथा गतिविधियों का निरीक्षण करते हैं। श्रीकृष्ण के रूप में विख्यात हे भगवान्! आपका यश अत्यन्त प्रकाशमान है। आपका आदि नहीं है क्योंकि आप प्रत्येक वस्तु के उद्गम हैं। शुद्ध भक्त इससे परिचित हैं क्योंकि आप शुद्ध तथा सत्यनिष्ठ के लिए सुगम हैं। जब करोड़ों वर्षों तक भौतिक जगत में भटकने के बाद बद्धात्माएँ आपके चरणकमलों पर मुक्त होकर शरण पाती हैं, तो उन्हें जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। अतः हे भगवान्! हम आपके चरणारविन्द को सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : देवतागण निश्चय ही भगवान् विष्णु से अपने कष्टों का मोचन चाहते थे, किन्तु अब वे सीधे भगवान् श्रीकृष्ण के ही पास पहुँचे। यद्यपि भगवान् विष्णु तथा भगवान् श्रीकृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण अपने वासुदेव रूप में इस लोक में—*परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*—अपने भक्तों को बचाने तथा दुष्टों का वध करने के लिए अवतरित होते हैं। असुर अथवा नास्तिक सदैव देवों या भक्तों को सताते रहते हैं, अतः नास्तिकों तथा असुरों को दंड देने और अपने भक्तों की इच्छा पूर्ति के लिए श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक वस्तु का आदि कारण होने के फलस्वरूप विष्णु तथा नारायण से ऊपर परम पुरुष हैं, यद्यपि भगवान् के इन विभिन्न रूपों में कोई अन्तर नहीं है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में कहा गया है—

दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य

दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा ।

यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

श्रीकृष्ण विष्णु के रूप में उसी प्रकार विस्तार करते हैं जिस प्रकार एक जलता दीप दूसरे को जलाता है। यद्यपि दोनों दीपकों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं होता तथापि श्रीकृष्ण आदि-दीपक

के समान हैं।

यहाँ *मृष्ट-यशसे* शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योंकि श्रीकृष्ण भक्तों को संकट से छुड़ाने के लिए सदैव प्रसिद्ध हैं। जो भक्त श्रीकृष्ण में पूर्णतया समर्पित होता है और जिसका एकमात्र उद्धारक श्रीकृष्ण रहता है, उसे *अकिञ्चन* कहते हैं।

महारानी कुन्ती ने अपनी स्तुति में भगवान् को *अकिञ्चन-वित्त* अर्थात् भक्त का धन कहा है। जो बद्ध जीवन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, वे वैकुण्ठ लोक को जाते हैं जहाँ उन्हें पाँच प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं—*सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य*। ये रस श्रीकृष्ण से उद्भूत हैं। जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है आदि रस माधुर्य प्रेम है। श्रीकृष्ण शुद्ध और आध्यात्मिक माधुर्य प्रेम के उद्गम हैं।

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन्सादरं त्रिदशैर्हरिः ।

स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; अथ—तत्पश्चात्; एवम्—इस प्रकार; ईडितः—पूजा तथा नमस्कार किये जाने पर; राजन्—हे राजन्; स-आदरम्—आदरपूर्वक; त्रि-दशैः—स्वर्ग के समस्त देवताओं के द्वारा; हरिः—श्रीभगवान्; स्वम् उपस्थानम्—अपना यशोगान; आकर्ण्य—सुनकर; प्राह—उत्तर दिया; तान्—उन (देवताओं) को; अभिनन्दितः—प्रसन्न होकर।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजा परीक्षित! जब देवताओं ने इस प्रकार से भगवान् की सच्ची स्तुति की तो उसे उन्होंने कृपापूर्वक सुना और प्रसन्न होकर देवताओं को उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठा मदुपस्थानविद्यया ।

आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रीतः—प्रसन्न; अहम्—मैं; वः—तुमसे; सुर-श्रेष्ठाः—हे देवताओं में श्रेष्ठ; मत्-उपस्थान-विद्यया—महान् ज्ञान तथा स्तुतियों से; आत्म-ऐश्वर्य-स्मृतिः—अपनी परम दिव्य स्थिति की स्मृति; पुंसाम्—मनुष्यों की; भक्तिः—भक्ति; च—तथा; एव—निश्चय ही; यथा—जिससे; मयि—मुझको।

श्रीभगवान् ने कहा—हे प्यारे देवो! तुम लोगों ने अत्यन्त ज्ञानपूर्वक मेरी स्तुति की है, जिससे मैं तुम लोगों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मनुष्य ऐसे ज्ञान के कारण मुक्त हो जाता है और मेरे उच्च पद को स्मरण करता रहता है, जो भौतिक जीवन की स्थितियों के ऊपर है। ऐसा भक्त पूर्ण ज्ञान में रहकर स्तुति करने पर शुद्ध हो जाता है। मेरी भक्ति करने का यही स्रोत है।

तात्पर्य : श्रीभगवान् का अन्य नाम उत्तमश्लोक है, जिसका तात्पर्य है कि चुने हुए श्लोकों से उनकी स्तुति की जाती है। भक्ति का अर्थ है श्रवणं कीर्तनं विष्णोः—अर्थात् विष्णु का जप तथा उन्हीं का श्रवण। निर्गुणवादी कभी शुद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि वे श्रीभगवान् की साकार प्रार्थना नहीं करते। यदि कभी प्रार्थना करते भी हैं, तो वह श्रीभगवान् को अर्पित नहीं होती। कभी-कभी वे भगवान् को अनाम कह कर अपने अपूर्ण ज्ञान का परिचय देते हैं। वे अप्रत्यक्ष रूप से यह कह कर सदैव प्रार्थना करते हैं, “आप यह हैं, आप वह हैं,” किन्तु वे यह नहीं जानते कि किसकी प्रार्थना कर रहे हैं। किन्तु भक्त सदैव साकार की प्रार्थना करता है। भक्त कहता है—गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि—“मैं गोविन्द या श्रीकृष्ण को सादर नमस्कार करता हूँ।” प्रार्थना करने की यही विधि है। यदि भक्त इस प्रकार साकार की प्रार्थना करता है, तो वह शुद्ध भक्त बनने तथा वापस भगवान् के धाम जाने का अधिकारी हो जाता है।

किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः ।

मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मतो वाञ्छति तत्त्ववित् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; दुरापम्—दुर्लभ; मयि—जब मैं; प्रीते—प्रसन्न; तथापि—फिर भी; विबुध-ऋषभाः—हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ; मयि—मुझमें; एकान्त—अनन्य; मतिः—जिसका ध्यान; न अन्यत्—और कहीं नहीं; मत्तः—मेरी अपेक्षा; वाञ्छति—चाहता है; तत्त्व-वित्—जो सत्य को जानता है।

हे बुद्धिमान देवताओं में श्रेष्ठ! यद्यपि यह सत्य है कि मेरे प्रसन्न हो जाने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं है, तो भी शुद्ध भक्त, जिसका मन विशिष्ट भाव से

मुझ पर स्थिर है, वह मेरी भक्ति में निरत रहने के अवसर के अतिरिक्त मुझसे और कुछ भी नहीं माँगता।

तात्पर्य : देवतागण स्तुति करने के बाद अपने शत्रु वृत्रासुर के वध किये जाने की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि देवतागण शुद्ध भक्त नहीं हैं। यद्यपि भगवान् के प्रसन्न होने पर किसी के लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना सहज है, किन्तु भगवान् को प्रसन्न करके देवता सदैव भौतिक लाभ की आकांक्षा करते हैं। भगवान् चाहते थे कि देवता उनसे अमिश्रित शुद्ध भक्ति के लिए प्रार्थना करते, किन्तु उन्होंने अपने शत्रु के संहार के अवसर मिलने के लिए प्रार्थना की। शुद्ध भक्त तथा भौतिक पद पर आसीन भक्त का यही अन्तर है। अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् दुखी थे कि देवताओं ने शुद्ध भक्ति की याचना क्यों नहीं की।

न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् ।

तस्य तानिच्छतो यच्छेद्यदि सोऽपि तथाविधः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वेद—जानता है; कृपणः—कंजूस जीवात्मा; श्रेयः—परम आवश्यकता, हित; आत्मनः—आत्मा की; गुण-वस्तु-दृक्—जो त्रिगुण की सृष्टि से मोहित है; तस्य—उसका; तान्—माया द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ; इच्छतः—इच्छा करते हुए; यच्छेत्—प्रदान करता; यदि—यदि; सः अपि—वह भी; तथा-विधः—उसी प्रकार का (मूर्ख कृपण जो अपने असली हित को नहीं पहचानता)।

जो लोग भौतिक सम्पत्ति को ही सब कुछ या जीवन का परम ध्येय मानते हैं, वे कृपण कहलाते हैं। वे आत्मा की परम आवश्यकता (हित) को नहीं जानते। यही नहीं, यदि कोई ऐसे मूर्खों की इच्छा की पूर्ति करता है, उसे भी मूर्ख समझना चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—कृपण तथा ब्राह्मण। वह ब्राह्मण है, जो ब्रह्म या परम सत्य को जानता है और इस प्रकार अपने असली हित को पहचानता है, किन्तु कृपण वह है, जिसके भौतिक या देहात्मबुद्धि होती है। यह न जानते हुए कि मानव या दैव जीवन को किस प्रकार बिताया जाये, कृपण त्रिगुणजन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षित होता है। इस तरह सदा भौतिक लाभों की कामना करने वाले कृपण मूर्ख होते हैं जबकि सदा आध्यात्मिक लाभ की कामना करने

वाले ब्राह्मण बुद्धिमान हैं। यदि कोई कृपण अपना हित समझे बिना कुछ माँगता है और उसे यदि कोई वह वस्तु देता है, तो वह भी मूर्ख है। किन्तु श्रीकृष्ण मूर्ख नहीं हैं, वे परम बुद्धिमान हैं। जब कोई श्रीकृष्ण से भौतिक लाभ की कामना करता है, तो उसे वे वस्तुएँ न देकर बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह भौतिक कामनाएँ त्याग कर उनके चरणकमलों में आसक्त हो जाये। ऐसी दशा में, यद्यपि कृपण भौतिक वस्तुओं के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, किन्तु भगवान् उसकी सारी सम्पत्ति लेकर उस कृपण को बदले में भक्त बनने की सद्बुद्धि प्रदान करते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.३९) में भगवान् का कथन है—

आमि—विज्ञ, एइ मूर्खे 'विषय' केने दिब ?

स्वचरणामृत दिया 'विषय' भुलाइ ॥

“चूँकि मैं अत्यन्त बुद्धिमान हूँ, अतः मैं इस मूर्ख को भौतिक सम्पत्ति क्यों दूँ? इसके बजाय मैं अपने चरणकमल की शरण के अमृत के लिए उसे प्रेरित करूँगा और उसके झूठे भौतिक सुख को भुलवा दूँगा।” यदि कोई भक्ति के बदले भौतिक सम्पत्ति के लिए सच्चे दिल से प्रार्थना करता है, तो भगवान् जो बुद्धिहीन भक्त की भाँति मूर्ख नहीं हैं उसकी भौतिक सम्पत्ति को लेकर बदले में बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह क्रमशः उनके चरणकमलों की सेवा करके सन्तुष्ट होने लगता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि यदि मूर्ख बालक अपनी माता से विष माँगे तो बुद्धिमान माता निश्चय ही उसे विष नहीं देगी, भले ही वह कितना ही अनुनय-विनय क्यों न करे। भौतिकवादी व्यक्ति को यह पता नहीं है कि भौतिक सम्पत्ति को स्वीकार करना विष अथवा जन्म-मृत्यु के चक्कर को स्वीकार करने के तुल्य है। बुद्धिमान ब्राह्मण भौतिक बन्धन से अपनी मुक्ति की आकांक्षा करता है। यही मुनष्य का असली कल्याण है।

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।

न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

स्वयम्—स्वतः; निःश्रेयसम्—जीवन का परम लक्ष्य अर्थात् भगवान् का आह्लादकारी प्रेम प्राप्त करने के साधन; वित्-वान्—जिसने भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर ली है; न—नहीं; वक्ति—शिक्षा देता है; अज्ञाय—मूर्ख को जो जीवन के चरम लक्ष्य से परिचित नहीं है; कर्म—सकाम कर्म; हि—निस्सन्देह; न—नहीं; राति—पिलाता है; रोगिणः—रोगी को; अपथ्यम्—अखाद्य; वाञ्छतः—इच्छुक; अपि—यद्यपि; भिषक्-तमः—अनुभवी वैद्य।

भक्तियोग में दक्ष शुद्ध भक्त कभी भी मूर्ख पुरुष को भौतिक सुख के लिए सकाम कर्म करने का उपदेश नहीं देगा, ऐसे कार्यों में सहायता करना तो दूर रहा। ऐसा भक्त उस अनुभवी वैद्य के समान है, जो रोगी के चाहने पर भी उसे ऐसा पथ्य ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करता जो उसे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो।

तात्पर्य : देवताओं द्वारा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त वरों में यही अन्तर है। देवों के भक्त इन्द्रियतृप्ति के लिए वर माँगते हैं इसलिए भगवद्गीता (७.२०) में इन्हें बुद्धि से विहीन कहा गया है—

कामैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

“भौतिक इच्छाओं के द्वारा जिनके ज्ञान को हर लिया गया है, वे ही देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुसार उपासना के विधि-विधानों का पालन करते हैं।”

बद्धजीव प्रायः बुद्धिविहीन होते हैं, क्योंकि उनमें इन्द्रियतृप्ति के लिए तीव्र इच्छा रहती है। वे यह नहीं जानते कि कौन-सा वर माँगा जाये। इसलिए शास्त्रों में उपदेश दिया गया है कि अभक्तजन भौतिक लाभों के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा करें। उदाहरणार्थ, यदि कोई सुन्दर पत्नी चाहता है, तो उसे उमा या देवी दुर्गा की पूजा करने की सलाह दी जाती है। यदि कोई रोग से मुक्ति चाहता है, तो उसे सूर्यदेव की पूजा करने को कहा जाता है। किन्तु देवताओं से वर प्राप्त करने की समस्त प्रार्थनाएँ भौतिक कामवासना के कारण हैं। ये वर दृश्य जगत के अन्त होते ही वर देने वाले के साथ समाप्त हो जाते हैं। यदि कोई वर माँगने के लिए भगवान् विष्णु के पास जाता है, तो वे उसे ऐसा वर देते हैं जिससे वह भगवान् के धाम वापस जाने में सहायता करेगा। इसकी

पुष्टि स्वयं भगवान् ने भगवद्गीता (१०.१०) में की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

भगवान् विष्णु या भगवान् श्रीकृष्ण, उस भक्त को जो निरन्तर उनकी सेवा करता है, उपदेश देते हैं कि इस भौतिक देह की समाप्ति पर उन तक किस प्रकार पहुँचा जाये। भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्गीता (४.९) में कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है; इस प्रकार जो मनुष्य दिव्य तत्त्व को जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।” यह भगवान् विष्णु या कृष्ण का वर है। शरीर त्यागने के बाद भक्त भगवान् के धाम को जाता है।

भक्त मूर्खतावश भौतिक वर माँग सकता है, किन्तु भक्त की प्रार्थनाओं के बावजूद भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा वर देते नहीं। इसलिए जो लोग भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे सामान्यतः कृष्ण या विष्णु के भक्त नहीं बनते, अपितु वे देवताओं के भक्त बन जाते हैं (कामैस्तैस्तैर्ह तज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः)। किन्तु भगवद्गीता में देवताओं द्वारा दिये गये वरों की निन्दा की गई है—*अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्*—“अल्पज्ञ मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, उनके फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं।” अवैष्णव को जो भगवान् की सेवा में नहीं लगता अल्पबुद्धि वाला मूर्ख माना गया है।

मघवन्यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।

विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

मघवन्—हे इन्द्र; यात—जाओ; भद्रम्—कल्याण; वः—तुम सबों का; दध्यञ्चम्—दध्यञ्च के पास; ऋषि-सत्-तमम्—सर्वश्रेष्ठ साधु पुरुष; विद्या—विद्या का; व्रत—व्रत; तपः—तथा तपस्या; सारम्—निष्कर्ष; गात्रम्—उसका शरीर; याचत—माँगो; मा चिरम्—बिना देरी किये।

हे मघवा (इन्द्र)! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हें महान् साधु दध्यञ्च (दधीचि) के पास जाने की राय देता हूँ। वे ज्ञान, व्रत तथा तपस्या में अत्यन्त सिद्ध हैं और उनका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ है। अब देर न लगाओ। उनके पास जाकर उनका शरीर माँगो।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार का प्रत्येक प्राणी, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक अपने शरीर को सुखी रखना चाहता है। भक्त भी सुखपूर्वक रहना चाह सकता है, किन्तु उसे ऐसे वर की तनिक इच्छा नहीं रहती। चूँकि स्वर्ग का राजा इन्द्र भी सुख-सुविधा की कामना कर रहा था इसलिए भगवान् विष्णु ने सलाह दी वह दध्यञ्च मुनि के पास जाकर उनका शरीर माँग ले जो उनके ज्ञान, व्रत तथा तपस्या के कारण अत्यन्त पुष्ट था।

स वा अधिगतो दध्यङ्क्षिभ्यां ब्रह्म निष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वा—निश्चय ही; अधिगतः—प्राप्त करके; दध्यङ्—दध्यञ्च; अश्विभ्याम्—दोनों अश्विनीकुमारों को; ब्रह्म—आध्यात्मिक ज्ञान; निष्कलम्—शुद्ध; यत् वा—जिससे; अश्वशिरः—अश्वशिर; नाम—नामक; तयोः—दोनों का; अमरताम्—जीवन से मुक्ति; व्यधात्—प्रदान किया।

ऋषि दध्यञ्च ने जो दधीचि के नाम से भी विख्यात हैं ब्रह्मज्ञान को आत्मसात् किया था और फिर उसे अश्विनीकुमारों को दिया। कहा जाता है कि दध्यञ्च ने उनको अश्वमुख (घोड़े के मुँह) से मंत्र दिये इसलिए वे मंत्र अश्वशिर कहलाते हैं। ऋषि दधीचि से ये मंत्र प्राप्त कर अश्विनीकुमार जीवनमुक्त हो गये।

तात्पर्य : अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी टीकाओं में निम्नलिखित कथा का वर्णन दिया है—

निशम्याथर्वणं दक्षं प्रवर्ग्यब्रह्मविद्ययोः दध्यञ्चं समुपागम्य तम् ऊचतुरथाश्विनौ। भगवान् देहि नौ

विद्यां इति श्रुत्वा स चाब्रवीत् । कर्मण्यवस्थितोऽध्याहं पश्चाद्वक्ष्यामि गच्छतम् । तयोर्निर्गतयोरेव शक्र
 आगत्य तं मुनिम् । उवाच भिषजोर्विद्यां मा वादीरश्विनोर्मुने । यदि मद्राक्यम् उल्लंघ्य ब्रवीषि सहसैव
 ते । शिरशिच्छन्द्यां न सन्देह इत्युक्त्वा स ययौ हरिः । इन्द्रे गते तथाभ्येत्य नासत्यावूचतुर्द्विजम् । तन्मुखाद्
 इन्द्रगदितं श्रुत्वा तावूचतुः पुनः । आवां तव शिरशिच्छत्वा पूर्वम् अश्वस्य मस्तकम् । संधास्यावस्ततो
 ब्रूहि तेन विद्यां च नौ द्विज । तस्मिन् इन्द्रेण सञ्छिन्ने पुनः सन्धाय मस्तकम् । निजं ते दक्षिणां दत्त्वा
 गमिष्यावो यथागतम् । एतच्छत्वा तदोवाच दध्याङ्ङः आथर्वणस्तयोः प्रवर्ग्य ब्रह्मविद्यां च
 सत्कृतोऽसत्यशंकितः ।

महामुनि दधीचि को सकाम कर्म करने के पूर्ण ज्ञान के साथ ही उच्च ब्रह्म (आध्यात्मिक) ज्ञान भी था। यह जानकर एक बार अश्विनीकुमार उनके पास गये और उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए प्रार्थना की। दधीचि मुनि ने उत्तर दिया, “इस समय मैं सकाम कर्म के लिए यज्ञ की तैयारी में व्यस्त हूँ। फिर कभी आँ।” जब अश्विनीकुमार चले गये तो स्वर्ग का राजा इन्द्र उनके पास पहुँचा और कहा, “हे मुनि! अश्विनीकुमार तो केवल वैद्य हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश न दें। यदि मेरे कहने पर भी आप उन्हें ब्रह्मविद्या देंगे तो मैं आपका सिर काट लूँगा।” दधीचि को इस प्रकार आगाह करके इन्द्र स्वर्गलोग चला गया। अश्विनीकुमारों ने इन्द्र का मनोभाव ताड़ लिया अतः वे दधीचि के पास लौट आये और ब्रह्मविद्या प्रदान करने की प्रार्थना की। जब मुनि ने इन्द्र की प्रताड़ना के विषय में उन्हें सूचित किया, तो अश्विनीकुमारों ने कहा, “हम पहले आपके इस सिर को काट कर घोड़े का सिर लगा देते हैं। आप अश्वमुख से ब्रह्मविद्या का उपदेश करें और जब इन्द्र आकर उस सिर को काट लेगा तो हम आपके असली सिर लगा देंगे।” चूँकि दधीचि ने अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या देने का वचन दे रखा था, अतः उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। अश्वमुख से दधीचि द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश दिये जाने से उसे अश्वशिर भी कहते हैं।

दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम् ।

विश्वरूपाय यत्प्रादात्त्वष्टा यत्त्वमधास्ततः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

दध्यङ्—दध्यञ्च; आथर्वणः—अथर्वा का पुत्र; त्वष्ट्रे—त्वष्टा के लिए; वर्म—कवच, नारायण कवच; अभेद्यम्—जो भेदा न जा सके; मत्-आत्मकम्—मुझसे युक्त; विश्वरूपाय—विश्वरूप के लिए; यत्—जो; प्रादात्—प्रदत्त; त्वष्टा—त्वष्टा; यत्—जो; त्वम्—तुम; अधाः—प्राप्त; ततः—उससे।

दध्यञ्च का नारायण-कवच नामक अभेद्य कवच त्वष्टा को मिला जिसने इसे अपने पुत्र विश्वरूप को दिया और जिससे तुमने इसे प्राप्त किया है। इस नारायण-कवच के कारण दधीचि का शरीर अब अत्यन्त पुष्ट है। अतः तुम जाकर उनसे उनका शरीर माँग लो।

युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति ।

ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः ।

येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

युष्मभ्यम्—तुम सबों के लिए; याचितः—माँगा जाकर; अश्विभ्याम्—अश्विनीकुमारों द्वारा; धर्म-ज्ञः—धर्म के ज्ञाता, दधीचि; अङ्गानि—अपने अंग; दास्यति—देगा; ततः—तत्पश्चात्; तैः—उन हड्डियों से; आयुध—हथियारों का; श्रेष्ठः—अत्यन्त शक्तिशाली (वज्र); विश्वकर्म-विनिर्मितः—विश्वकर्मा द्वारा तैयार किया गया; येन—जिससे; वृत्र-शिरः—वृत्रासुर का सिर; हर्ता—काट लिया जाएगा; मत्-तेजः—मेरे बल से; उपबृंहितः—बढ़े हुए।

जब तुम्हारी ओर से अश्विनीकुमार दधीचि का शरीर माँगेंगे, तो वे स्नेहवश अवश्य दे देंगे। इसमें सन्देह मत करो, क्योंकि दधीचि धर्म के ज्ञानी हैं। जब दधीचि तुम्हें अपना शरीर दे देंगे तो विश्वकर्मा उनकी हड्डियों (अस्थियों) से एक वज्र तैयार कर देगा। यह वज्र मेरी शक्ति से युक्त होने के कारण निश्चित रूप से वृत्रासुर का वध करेगा।

तस्मिन्विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः ।

भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—जब वह (वृत्रासुर); विनिहते—मारा जाता है; यूयम्—तुम सभी; तेजः—तेज; अस्त्र—तीर; आयुध—अन्य हथियार; सम्पदः—तथा ऐश्वर्य; भूयः—फिर; प्राप्स्यथ—प्राप्त करोगे; भद्रम्—समस्त कल्याण; वः—तुमको; न—नहीं; हिंसन्ति—पीड़ा पहुँचाएँगे; च—तथा; मत्-परान्—मेरे भक्त।

जब वृत्रासुर मेरे आत्मबल (ब्रह्मतेज) से मर जायेगा, तो तुम्हें पुनः अपना तेज आयुध तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार तुम सबका कल्याण होगा। यद्यपि वृत्रासुर तीनों

लोकों को विनष्ट कर सकता हैं, किन्तु तुम मत डरो कि वह तुम्हें हानि पहुँचायेगा। वह भी भक्त है और तुमसे कभी भी विद्वेष नहीं करेगा।

तात्पर्य : भगवान् का भक्त किसी से द्वेष नहीं रखता, अन्य भक्तों की तो दूसरी ही बात है। जैसाकि बाद में पता चला, वृत्रासुर भी भक्त था। अतः उससे यह आशा नहीं की जाती थी कि वह देवताओं से द्वेष रखेगा। उल्टे, वह स्वतः देवताओं का हित करना चाहेगा। भक्त सत्कार्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। चाणक्य पंडित ने कहा है—*सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति*। अन्ततः मनुष्य की सारी सम्पत्ति, यहाँ तक कि शरीर भी नष्ट हो जायेगा। अतः यदि किसी सत्कार्य में इनका प्रयोग हो तो भक्त अपना शरीर भी देने से नहीं कतराता। चूँकि भगवान् विष्णु देवताओं की रक्षा करना चाहते थे, अतः वृत्रासुर, जो तीनों लोकों को निगल सकता था, देवताओं द्वारा मारे जाने के लिए उद्यत हो जायेगा। भक्त के लिए जीने तथा मरने में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि जीने पर वह भगवान् की भक्ति करता है और देह त्यागने के बाद वैकुण्ठ में भी वही सेवा करता है। उसकी भक्ति निर्बाध चलती जाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध के अन्तर्गत “राक्षस वृत्रासुर का आविर्भाव” नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।